समाज और साहित्य

(साहित्य, आलोचना और समाज की शक्तियों की
प्रगतिवादी व्याख्या)

Samaj aur Sahitya.

अंचल

Anchal

प्रकाशक
मातृभाषा मन्दिर दारागंज, प्रयाग

2-8

लेख-सूची

अंचल की अन्य रचनायें

१ — मधूलिका (कविता)
२ — अपराजिता (,,)
३ — किरण बेला (,,)
४ — करील (,,)
५ — लालचूनर (,,)
६ — तारे (कहानी संग्रह)
७ — ये, वे, बहुतेरे (,,)
८ — चढ़ती धूप (उपन्यास)

आमुख

'समाज और साहित्य' मेरे भिन्न भिन्न लेखो का संकलन है। इनमें प्रथम पाँच को छोड़ कर शेष सभी निबन्ध पुस्तक के मुद्रणकाल में ही लिखे गये हैं और प्रायः अप्रकाशित हैं। जिस प्रगतिवादी समाज-वैज्ञानिक दृष्टिकोण और साहित्यिक अन्तर्दृष्टि को लेकर इन लेखों को लिखने की चेष्टा की गई है उसकी साहित्य शास्त्र और आलोचना के भीतर कितनी और कैसी पैठ है और वर्तमान युग में कला तथा सृजन की इतर वृत्तियों को वह कितनी दूर तक प्रभावित कर रहा है यह समझे बिना वर्तमान साहित्य का परिचय अधूरा माना जायगा। परन्तु प्रगतिवाद और साहित्य के मार्क्सवादी पक्ष के बड़े जानकार सम्पूर्णानन्दजी, नन्ददुलारे वाजपेयी, राहुलजी, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे प्रभृति विद्वानों के ऐसी कोई पुस्तक लिखने के पूर्व मेरा यह प्रयास एक स्पष्ट भूमिका के तौर पर पाठकों द्वारा ग्रहण किया जायगा ऐसा मैं सोचता हूँ। यों हंस के प्रगति अंक यदि पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो जाँय तो हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति हो सकती है और मार्क्सवाद के आधार पर साहित्यालोचना की एक स्थाई रेखा के बनने में उससे पूर्ण सहायता भी मिल सकती है। फिर भी साहित्य की सृजनात्मक क्रिया और काव्य कला का एक साधारण विद्यार्थी होने के नाते मेरा यह प्रयास क्षम्य होगा—यही मेरी सन्तोषप्रद धारणा है। मेरा इरादा राहुल सांकृत्यायन, निराला, पन्त, उग्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, नवीन, एक भारतीय

आत्मा, उदयशंकर भट्ट, यशपाल और भगवतीचरण वर्मा प्रभृति कवियों और लेखकों पर स्वतंत्र लेख लिखने का था जिन्होंने साहित्य सृजन की लम्बी परम्परा में समय समय पर प्रगति की शक्तियों का मार्ग खोला है। परन्तु इस प्रकार का स्वतंत्र निबन्ध मैं केवल प्रेमचन्द पर लिख सका और कागज़ की कमी के कारण मन की मन में रह गयी। साथ ही दूसरे साहित्यिक दृष्टिकोणों के प्रतिनिधि महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जयशंकरप्रसाद, नरोत्तमप्रसाद नागर, और इलाचन्द्र जोशी पर भी मैं अपने स्वतंत्र सामूहिक अध्ययन पेश करना चाहता था। कुछ ऊपर जिन आलोचकों का उल्लेख हुआ है उन पर भी स्वतंत्र लेख लिखकर उनकी आलोचना पद्धति के गुण दोषों और द्वन्द्वात्मक वैज्ञानिकता को परखा जा सकता है। यह सब यथा-संभव मेरी अगली पुस्तक में जो इसी पुस्तक का द्वितीय भाग होगी रहेगा। मुझे विश्वास है तब तक मेरा चनने का क्रम अधिक प्रौढ़ जीवनभूमि पर आ जायगा।

साहित्य मानव की आवश्यकताओं का अध्ययन और उनकी पूर्ति का साँस्कृतिक साधन है। समाज के समस्त वर्गों के आर्थिक साम्यवाद की उपलब्धि का कलात्मक तरीका तो साहित्य है ही साथ ही वह जीवन के समस्त क्रान्तिकारी आदर्शों का सामूहिक अंगीकरण (अराजकवादी शक्तियों के माध्यम से नहीं वरन जनता के उपयोगी और ललित दोनों प्रकार के श्रम के सामाजीकरण के माध्यम से) और साम्य-वादी नव निर्माण का स्थिरीकरण है। जिस प्रकार जीवन को कायम रखने के लिये जीवन का प्रसार आवश्यक है उसी प्रकार साहित्य की शक्तियों को आध्यात्मिक निष्क्रियता की रीतियों से मुक्त करने के लिये उसे वर्गहीन समाज व्यवस्था की सृष्टि बनाना होगा। उल्लासमय जीवन ही विकास की ओर अग्रसर होता है और सामाजिक समता और आर्थिक

सौख्य की दीप्ति से प्रकाशित समाज में ही जीवन के यथार्थ रस की पूर्णता को रूप देने वाला साहित्य लिखा जाता है। साहित्य सदैव मानव समाज की स्वाधीनता के लिये किया गया विचारात्मक और कलात्मक उद्योग है जो व्यक्तिवादी समाज में सम्पूर्ण मानवसमाज की साँस्कृतिक स्वाधीनता का प्रवर्तक होता है। साँस्कृतिक सहयोग की यही प्रवृत्ति, समाज के सम्मिलित जीवनदर्शन को यही संचित ज्ञान-राशि साहित्य की संज्ञा पाती है। साहित्य को व्यक्ति के अराजकवादी अहम् की परिपूर्ति और असामाजिक पलायन की तुष्टि का कलावादी साधन मानने और मनवाने की कोई भी चेष्टा आज जनता को मान्य नहीं है—चाहे वह जितने बड़े आध्यात्मवादी व्यक्तिवादी प्रज्ञावाद के हिमायती द्वारा की जाती हो। साहित्य सामाजिक श्रमशक्तियों के विकेन्द्रीकरण का नाम नहीं वरन एक सम्पूर्ण, कल्याणकारी, जनता के समस्त हितों की रक्षा करने वाली सौन्दर्य और कला की समस्त उपलब्धियों को प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक श्रेणी के लिये एक सी उपयोगी और एक सी आनन्ददायक मानने वाली जीवन योजना का ही साँस्कृतिक आन्दोलन है। स्पष्ट है कि ऐसे साहित्य का लक्ष्य संघर्ष के भीतर से—परिवर्तन की क्रान्तिकारी क्रिया के चक्र के समन्वय और सन्धि की प्राप्ति ही है। परन्तु इस स्थाई और सर्वदेशीय सन्धि और शक्ति की स्थापना के पहले वह अंतिम संघर्ष और हितों का निपटारा हो जायगा जिसके फलस्वरूप मानव मात्र को सुविधाओं की बराबरी और अवसर प्राप्ति की समानता का अधिकार रहेगा। उस समय थोड़े से पूँजीपतियों, मुनाफ़ाखोरों और महाजनों के श्रेणी लाभ के लिये मानव जाति का ऐसा कारुणिक और अमानुषिक संहार नहीं होगा जैसा बङ्गाल के मानवसृजित अकाल में हुआ है। ऐसे समाज की स्थापना जब मानव का सबसे पहला और पवित्रतम कर्तव्य है तो

क्या ऐसे साहित्य की अभिवृद्धि पर उसका बोलशेविक आग्रह नहीं होना चाहिये जो इस श्रेणीजन्य व्यक्तिगत मुनाफाखोरी की काली समाज-प्रणाली के नाश के फलस्वरूप जन्म लेती हुई समाजवादी जनव्यवस्था की स्थापना के सामाजिक स्वप्न को यथार्थता में परिणत करने का मनोबल प्रदान करे। इस सामाजिक, नैतिक और बौद्धिक प्रचार का दायित्व साहित्य पर है और उसकी शक्तियों को मानवता के सामूहिक कल्याण के प्रचार का माध्यम बनने में कभी व्यक्तिवादी विकृतियों की आड़ नही लेनी चाहिये। जनता के साँस्कृतिक और औद्योगिक उत्थान के लिये साहित्य को सामाजिक एकता की नींव डालनी होगी और इसके लिये लाल क्रान्ति की ज्वाला संगठित करनी होगी। मानव श्रम द्वारा निर्मित सभी वस्तुओं के उपयोग और उपभोग का अवसर—सभ्यता के समस्त वरदानों का सामूहिक विभाजन जिस समाज में नहीं है उसकी रक्षा की वकालत कभी प्रगतिशील साहित्य नहीं करेगा। इसके विरुद्ध वह सदैव क्रान्तिकारी मनोबल का साथ देगा और वर्तमान श्रमशोषक समाज व्यवस्था के नाश के लिये कटिबद्ध प्रगति और परिवर्तन की शक्तियों का साथ देगा। वस्तुतः साहित्य तो क्रान्ति के लिये अकुलाती हुई सर्वहारा की आशाओं और आकाँक्षाओं का सक्रिय प्रतिनिधित्व करता है।

साहित्य का लक्ष्य दोहरा होता है। अतीत की समस्त साँस्कृतिक निधि की रक्षा और भविष्य के नवनिर्माण की कठिन जिम्मेदारी उसके कंधों पर रहती है। फैशिज्म के रूप में आज संसार में साहित्य का एक ऐसा प्रबल शत्रु उपस्थित है जो उससे इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करने का सामर्थ्य छीन लेता है और फैसिस्ट शासनों में साहित्य केवल श्रमशोषकों के प्रचार और उनकी काली, हिंसक योजनाओं के प्रसार का साधन बन कर रह गया है। जिसे सारे समाज

के हितों की आवाज़ उठानी चाहिये वह थोड़े से राष्ट्रीयतावादी पूँजी-पतियों के हाथ का अस्त्र बन कर गुलामी की कुरूपता को गहरी करने वाले षड़यन्त्र का साधक बन कर रह गया है। फैशिज्म से बढ़ कर जनता की साँस्कृतिक क्रान्ति का शत्रु कोई और नहीं है। बँगला के सर्वप्रसिद्ध आधुनिक उपन्यासकार ताराशंकर बनर्जी के शब्दों में फाशिज्म-विरोध एक नकारात्मक भावना को ही प्रकट नहीं करता जैसा कि हमारे यहाँ हिन्दी के बहुत से साहित्यिक सोचते हैं, वरन एक बहुत ठोस और सकारात्मक चीज़ को व्यक्त करता है। वह देश की स्वतंत्रता के ठोस संग्राम को व्यक्त करता है हिन्दुस्तान को गुलामी में बाँध रखने वाली बेड़ियों के विरुद्ध, मनुष्य द्वारा पैदा किये गये अकाल के विरुद्ध और युद्ध की स्थिति का लाभ उठाकर तिजोरियाँ भरने की अप-राधी मनोवृत्ति के विरुद्ध। साथ ही फैशिज्म-विरोध लेखकों और कलाकारों की उस महान साधना को, उस व्यापक संघर्ष को, जिसके द्वारा वे जनता के साथ संपर्क स्थापित करने की चेष्टा कर रहे हैं, व्यक्त करता है। यह जन-संपर्क साहित्य की कलात्मक प्रवृत्ति को और तीव्र तो बनाता ही है, उसकी शक्तियों को फैसिस्ट प्रभावों से भी दूर रखता है। बँगला के इस अग्रणी प्रगतिशील लेखक के उपरोक्त शब्दों से बहुत से लोगों का भ्रम निवारण हो जायगा। फैशिज्म विरोध कोई हवाई आदर्श नहीं है। वह तो देश की स्वतंत्रता के ठोस संग्राम को उसके व्यापकतम रूप में प्रकट करता है। वही भारतीय जन-जीवन के इन जर्जर क्षणों में पराजय भावना से ग्रस्त मानव के विद्रोह कराने वाले मनोबल को स्थिर रक्खे है। वही आज देश के राष्ट्रीय जीवन में बहने वाले वेदना के शात और अशात स्रोतों को आश्वस्त चितवन से देखता हुआ पीड़ित, शोषित और दलित भारतीय मानव के विद्रोही आत्मगौरव को अक्षुण्य बनाये है। साहित्य के जन-संपर्क की महान

परम्परा भी फैशिज्म विरोध के इसी क्रान्तिकारी स्वरूप से पैदा हुई है और जनसंपर्क के जीवनप्रद नारे ने आज देश देश के साहित्यकारों को फैसिस्ट गुलामी से छुड़ा कर जनता की समस्याओं की अभिव्यक्ति और हल में उनकी कला का सर्वोपरि उत्कर्ष दिखा दिया है। आज साहित्य की यह प्रवृत्ति मानवता की अनिवार्य माँग है। आर्थिक निःसम्पत्तीकरण भी करना होगा और साहित्य को केवल उच्च धनी वर्ग और सामन्तवादी वर्ग के उपयोग और उपभोग की वस्तु न बनी रहने देकर उसे अब जनजागृति, जनक्रान्ति और जनसत्ता की स्थापना के अर्थ के रूप में देखना होगा।

कला और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्ध को रैल्फ फाक्स ने मनुष्य के स्वप्न और जीवन का सम्बन्ध कहा है। कला उसकी उच्चतम भावनाओं, आकांक्षाओं और सपनों की कल्पनात्मक परिणति है और राजनीति उसकी सामाजिक स्थिति और सामाजिक गुलामी या स्वाधीनता की एक सतत जीवनव्यापिनी क्रिया है। इन दोनों के सुखद तादात्म्य में ही जीवन और साहित्य की मुक्ति है। किसी भी देश की राजनीति फैशिज्म से परिचालित होते ही वहाँ की जनता के सबसे बड़े वर्ग—श्रमजीवियों के हितों की अवहेलना करने लगती है और उनके सामाजिक और आर्थिक शोषण के साथ उनका सांस्कृतिक शोषण भी आरम्भ कर देती है। जनसंपर्क से रहित साहित्य सदैव थोड़े से श्रमचोरों के आनन्द विलास की या शरद बाबू के अधिकांश निकम्मे, पुश्तैनी जायदाद के बल पर रोमान्स करने वाले और ईमानदार श्रम की भावना से सर्वथा अनभिज्ञ नायकों की तरह के कामचोर और पुश्तैनी मुनाफ़ाखोरों के समय काटने का साधन बनता है। फैशिज्म-विरोध का सबसे बलवान अंग यही जनसंपर्क की साहित्य साधना है जो आज देश देश के साहित्य में एक महान परम्परा

चनत जा रही है। यह सभ्यता की अपमानित और दलित आत्मा की प्रतीक है जो पूँजी के दानवों और उनके अनुचरों का विरोध करती है और उन्हें जीवन संग्राम की परिधि में पराजित करती है। फैशिज्म का विरोध प्रकारान्तर से पूँजीवाद, साम्राज्यवाद तथा सैनिकवाद का विरोध है और अँगरेजी पूँजीवाद और साम्राज्य-वाद से भारतीय जनमत का दशाब्दियों का विरोध और सतत संघर्ष इस फैशिज्म-विरोध में वाणी पाता है। वैयक्तिक मुनाफ़ाखोरी और पूँजी प्रसार का जो राक्षसी रूप बंगाल के महाजन निर्मित इस भीषण अकाल में देखा गया है—उसके प्रति सख्त और कड़वी नफ़रत का भाव भी फैशिज्म विरोध में है। फासिस्ट विरोधी साहित्य भी उस व्यापक महान सामाजिक आन्दोलन का परिणाम है जो आज समाज के प्रत्येक स्तर में फैशिज्म के प्रति प्रबल विरोध के रूप में दिखाई देता है। फैशिज्म विरोध को जो लोग एक नकारात्मक योजना मात्र मानते हैं उन्हें उसका यह निर्माणात्मक रूप देखना चाहिये। और यदि इसी आन्दोलन के भीतर से एक स्वस्थ्य, चेतना-सम्पन्न और सौन्दर्य्य के मानों से अवदात जनकला की परम्परा निर्मित हो जाती है तो यह साधारण कृतित्व न होगा। कला का यह साँस्कृतिक और जनजीवन की कर्मभूमि पर स्थित साहित्यिक साधारणी-करण प्रत्येक दृष्टि से साहित्य की गौरववाहिनी परम्परा को बल देगा। हम क्यों न यह संगत आशा करें कि यही परम्परा जन जन की आसुरिक संचय वृत्ति (शोषण पर आधारित) को समाज के हितों के लिये सतुलित और संयमित कर देगी। तभी उस समाज का निर्माण होगा जिसमें कलाकार का एक सामाजिक उद्देश्य और सामूहिक कर्तव्य होगा और इस फैशिज्म विरोध के भीतर के एक महान साँस्कृतिक परम्परा की स्थापना हो जायगी। क्योंकि फिलिप हेन्डरसन

के शब्दों में अतीत की समस्त महान कला-परम्परायें—मिश्र, ग्रीस, भारतवर्ष, आफ्रिका या यूरोपीय मध्यकाल की—सदैव कलाकार के निजी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति से कहीं बड़ी किसी अन्य सत्ता की अभिव्यक्ति की जीवन-भूमि पर पनपीं और प्रसरित हुई हैं।

मार्क्सवादी व्याख्या, जीवनदर्शन और विश्वबोध के अनुसार साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक संग्राम का व्यक्तीकरण है। इस बात को तनिक साफ करना होगा। मनुष्य प्रत्येक जगह स्वतंत्र पैदा होता है और प्रत्येक जगह वह बन्धनों में बँधा है यह रूसो का कथन अब गलत साबित हो चुका है। काडवेल ने अपनी 'मरणोन्मुखी संस्कृति के अध्ययन' नामक पुस्तक में रूसो के इस रीतिबद्ध नारे की वैज्ञानिक आलोचना की है। असल में स्वाधीनता बन्धनों की अनुपस्थिति का नाम नहीं वरन सामाजिक सम्बन्धों की आर्थिक परिणति का नाम है। एक महाजन के यहां पच्चास रुपये मासिक वेतन पाने वाला मुनीम या पुरोहित बाह्य और लौह बन्धनों में तो नहीं बँधा होता परन्तु उसका समस्त सामाजिक विवेक—यहाँतक कि आत्मा भी बिक जाती है। रूसो ने बन्धन का जिस अर्थ में प्रयोग किया है उससे अधिक दृढ़ ये आर्थिक और श्रेणीवैषम्य के बन्धन होते हैं। इन्हीं के टूटने से मानव की वास्तविक मुक्ति होगी। पुरानी गुलामी की हथकड़ी तो टूट गई है परन्तु आर्थिक शिकंजा और कड़ा हो गया है। जहाँ पहले कोड़े थे वहाँ अब कटौती, जुर्माने और मँहगाई आगई है जो आदमी को पशु बनाये दे रही है। पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही राष्ट्रीयता और स्वाधीनता के लिये चेष्टा करने वाली राजनीति ने जनता को—प्रतिक्षण देहातों में खेतों पर या शहर में मिलों और दूकानों पर काम करती हुई पर आर्थिक दृष्टि से बिलकुल टूटी हुई विराट भारतीय मानवता को चरगलाये रक्खा। बार बार उनके सामने

नैतिक और आचारिक मूल्यों पर ज़ोर दिया गया। राजनैतिक और वैधानिक माँगों पर उतना जोर नहीं दिया गया और सोवियट रूस के इस महान सामाजिक और राजनैतिक प्रयोग ने पेटी बुर्जुआ वर्ग के नेताओं पर कोई प्रभाव नहीं डाला। फैसिस्ट देशों की सरकारी सोशलिस्ट या नेशनल सोशलिस्ट पार्टी ने शुरू से ही किसानों और मजदूरों के आन्दोलन से अपने को दूर रक्खा। पूँजीपति वर्ग के आर्थिक और नैतिक बल के सहारे चलने वाली देशों की प्रमुख राजनैतिक पार्टियों ने श्रमिकों के आन्दोलनों और स्वत्वरक्षण चेष्टाओं का सदैव विरोध किया है। हमारे देश में भी बहुत से नेताओं का कहना है कि किसानों को चाहिये वे जमींदारों के शोषण को स्वीकार करें और प्रतिरोध में आवाज़ न उठायें। यदि ईश्वर है और ऐसा वे मानते हैं तो जमींदारों का हृदय-परिवर्तन होगा और किसानों के दिन लौटेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे स्वराज्य का मूल्य क्या जिसमें समाज के भीतर जमींदारी और पूँजीवाद, महाजनी या साहूकारी का शोषण या वैयक्तिक मुनाफ़े और पूँजी के आधार पर श्रेणी विभाजन और विग्रह चलता रहे। ऊपर यह कहा गया है कि प्रत्येक जगह मनुष्य आर्थिक और सामाजिक, नैतिक और मानसिक गुलामियों में जकड़ा है और केवल रूस को छोड़कर कहीं ये दासता की हथकड़ियाँ नहीं टूटीं। परन्तु उसकी वर्ग चेतना और वर्गसंघर्ष की प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। वह और उसकी परिस्थितियाँ विषम सामाजिक वातावरण के भीतर पीढ़ी दर पीढ़ी संग्राम करती आयी हैं। साहित्य उसके इन्हीं राजनैतिक (सामाजिक + आर्थिक) आन्दोलनों का प्रतिबिम्ब है। मानव का यह विद्रोह सामूहिक और श्रेणीबद्ध होता है। इस संघर्ष में मानव करणीय और अकरणीय का भेद समझता है और वह अपने भीतर घुलना त्याग कर अपने से बाहर आता है। साहित्य मनुष्य के उस सामाजिक संघर्ष का

प्रतिबिम्ब (और सक्रिय अस्त्र भी) है जिसमें वह जीवन को अपनाने और अपना बनाने की चेष्टा छोड़कर अपने को संसार का बनाने की चेष्टा करता है—जहाँ वह मँगता से दाता बन जाता है; जहाँ वह सोचता है—एक झोंका भी इस सामाजिक आँधी को वह दे देगा तो इसका रुकना असंभव है।

इस प्रकार साहित्य सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने का अस्त्र है। समाज की चेतना के किसी भी स्तर को घनीभूत करने के लिये साहित्य का माध्यम आवश्यक है। सारी कला प्रचार है ऐसा न कह कर यदि हम कहें कि साहित्य सदैव एक वस्तुमत्ता से पूर्ण सामाजिक प्रयोजन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति है तो उचित होगा। परन्तु यह कहना कि सारा साहित्य और कला प्रचार मात्र है अतिशयोक्ति होगी। वह कभी कभी ऐसे प्रयोजन की पूर्ति की चेष्टा कर सकता है जो कुछ हलचल पैदा करे और आन्दोलनकारी हो। परन्तु साहित्य सदैव जीवन में घुसने के लिये नई अन्तर्दृष्टियाँ देता है और उसके भिन्न भिन्न पहलुओं की व्याख्या भी। साहित्य का दूसरा प्रयोजन है प्रत्येक उस स्थिति को नये तौर पर सृजित करना जो मनुष्य में जीवन के प्रति अनुराग पैदा करती है—उसको जीवित रहने में दिलचस्पी देती है। जीवन की ऐसी स्थितियों का चित्रण कभी भी अत्यधिक या उबाने वाला नहीं हो सकता। साथ ही साहित्य की इस परिभाषा से एक दूसरी संभावना भी पैदा होती है। साहित्य में वे ललित कलायें भी तो आती हैं जो किसी सामाजिक प्रभाव को पैदा न कर विशुद्ध सौन्दर्य की सृष्टि करती हैं। निराला और पन्त की दरजनों ऐसी कवितायें हैं। तब साहित्य का यह निर्लिप्त रूप—कला का यह निःसंग अनपेक्ष सौन्दर्य जो सामाजिक प्रभावों से बिलकुल शून्य है क्या निरर्थक है ? ऐसी या इसी तरह की और भी बहुत सी अकल्पनीय समस्यायें साहित्य को इस स्वभावगत द्विधा और द्वैत के

कारण पैदा हो जाती हैं। इस आधार पर हम मनुष्य के अनुभवों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—उपयोगी और निष्प्रयोजन या सौन्दर्य्यात्मक। मानवीय श्रम और अनुभव का यह निरपेक्ष सौन्दर्य्य के सुख और मानसिक परितृप्ति के लिये किया गया भाग मानव के व्यक्तित्व को महत्व देता है और शेष दूसरा भाग सामाजिक प्रयोजन की पूर्ति के लिये किया जाता है। प्रथम की जाँच उपयोगिता के मानों पर नहीं होती और सोद्देश्यता का प्रश्न वहाँ उठाना अप्रासंगिक है। इसे मनुष्य की संघर्ष-पलायन-वृत्ति की एक अभिव्यक्ति भी कहा जा सकता है—जीवन की पूर्णता जहाँ विश्राम पा सके और उन मनोवैज्ञानिक स्थितियों का निर्माण साहित्य कर सके जो इस उपलब्धि को ही सब कुछ—इस सारे अनुभव का अन्त मानती हो। इस साहित्य या कला में व्यक्तिवादी परिष्कृतियों और संस्कारों के कलात्मक प्रदर्शन के लिये किया गया मानवीय प्रयत्न अधिक होगा—सजीव वस्तुसत्ता का निरूपण कम या बिलकुल नहीं। दूसरी ओर उपयोगितावाद की उद्देश्यपूर्ण धरती पर टिकी हुई कला और साहित्य में प्रयोजन की परिपूर्ति का गुण भी होगा। बाहरी जगत के विकास और समाज के निरन्तर प्रगतिक्रम की क्रिया का उसमें चित्र होगा और इस प्रगति की भिन्न भिन्न स्थितियों की भिन्न भिन्न जीवनकोणों से की गई कलात्मक आलोचना भी ऐसे साहित्य में होगी जो प्रचार नहीं करेगी वरन आत्मस्वीकृति के सुख को विश्वबोध में निमज्जित कर देगी। किसी विशेष परिणाम, स्थिति या आवश्यकता के कारण कला में इन दो में से एक तत्व की प्रधानता होती है। परन्तु तीसरी और साहित्य की यथार्थ स्थिति वह है जिसमें रची गयी कला महान और युग युग के लिये होती है—जब मनुष्य का सामाजिक अनुभव सामंजस्यपूर्ण और सुसंतुलित हो जाता है। उस समय साहित्य में प्रयोजन या

वस्तुसत्ता और सौन्दर्य-सृष्टि या व्यक्ति-सत्ता का द्वन्द समाप्त हो जाता है। उस समय लेखक के पास 'कनविक्शन' का बल होता है और वैज्ञानिक जानकारी और अध्ययन के अभाव की पूर्ति लेखक या कवि के दृढ़ मनोबल और प्रगति का भी संकल्प की निष्ठा से हो जाती है। उस समय कला के शरीर से जीवन के स्वर फूटते हैं और साहित्य तथा कला का उपरोक्त दो खन्डों में विभाजन जो अन्यथा साहित्य में प्रत्येक समय स्वाभाविक और आवश्यक है उस समय समाप्त हो जाता है।

अब देखना यह है उपरोक्त दोनों प्रकार की कला और साहित्य में किसे महत्व दिया जाय और प्रचारित किया जाय। साहित्यकार किस कला को अपने जीवनदर्शन का अंग बनावे और वह सामाजिक प्रभावों की सृष्टि करे या अपनी एकाकी जीवन छायाओं से खेलता हुआ कला के लिये कला का सृजन करे। इङ्गलैंड, अमेरिका और 'कन्टीनेन्ट' में तो प्रत्येक देश का साहित्य इन्हीं दो प्रमुख खेमों में बँट गया है। भारतवर्ष में मार्क्सवादी वर्गचेतना कुछ देर में पैदा हुई और यहाँ की गुलाम राजनीति का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता रहा। परन्तु निकट भविष्य में ही साहित्यकारों और कलाकारों के दो स्पष्ट दल हो जायँगे। एक जो कला का functional मूल्य मानेगा और दूसरा जो विशुद्ध सौन्दर्यशास्त्र के मानों पर कला को कसेगा। जिस वर्ग को अनुभव अपने में ही जीवन का अन्त मालूम होगा वह एक तरफ होगा और जिसे अनुभव के सामाजिक फल से अधिक मतलब होगा वह दूसरी ओर। कला के लिये कला में पदार्थ का निरीक्षण और अभिव्यक्ति उसी को लेकर होती है। पदार्थ का बाहरी स्थितियों और जीवनदशाओं से कोई सम्बन्ध कलाकार सोच ही नहीं सकता यद्यपि वे उसके अस्तित्व की क्रिया का ही अंग हैं और उसके बनने के क्रम में कुछ बाहरी उपा-

दानों का भी हाथ रहा है। यह सर्वथा वैयक्तिक दृष्टिकोण बढ़ते बढ़ते बाद में प्रयोजन और बाह्य सत्ता दोनों को ठुकरा देता है और अर्थहीन निष्प्रयोजन सौन्दर्य की सृष्टि किया करता है। अभिव्यंजनावाद जो हिन्दी साहित्य में आज भी जोरों पर चल रहा है ऐसी ही कला प्रवृत्ति का फल है। शान्तिप्रियजी जैसे अभिव्यंजनावादी आलोचक केवल उस सौन्दर्य-द्रव्य को साहित्य में खोजा करते हैं जिसका अतीत और भविष्य अर्थहीन है—जो अपना लक्ष्य आप ही है क्योंकि उनके यहाँ तो अनुभव के सामाजिक फल की नहीं वरन स्वतः अनुभव की खोज है। वहाँ केवल वस्तु से प्राप्त आनन्द ही उसके अच्छे बुरे होने का निर्णायक होता है और इसी साहित्यिक नशे में चूर साहित्कार कहते हैं—इससे बड़ा निर्णय सौन्दर्य की शक्ति और उपयोगिता का क्या हो सकता है ? अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि हमारे ऊपर उस अनुभव या मूर्त पदार्थ का क्या प्रभाव पड़ा और कैसे कैसे रसात्मक उद्बोधन उसने हमें दिये। यही नहीं इन उत्तेजनों का रेखा लेखा दे देना ही हमारे हिन्दी साहित्य में आलोचक का कार्य रहा है। अभिव्यंजनावाद के एक प्रमुख अमेरिकन साहित्य शास्त्री ने लिखा है—कविता का यह स्वभावजन्य प्रयोजन नहीं है कि वह किसी नैतिक या सामाजिक कर्म को आगे बढ़ावे। (J. E. Spingarn—Creative Criticism and Other Esseys) परन्तु यह कला परीक्षण—की साहित्यालोचन की यान्त्रिक कसौटी कला को उसके सम्बन्ध के इतर क्षेत्रों से अलग कर देती है। कला का सामाजिक अंतस्थ जो साहित्य के उपादानों में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है बिलकुल गौण हो जाता है—अकर्मक कलाकार केवल अपने सपने के चश्मे से चित्र बनाता है। प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता कि चित्र किसका है ? चित्र कैसे

है यह प्रश्न तो हो सकता है और अभिव्यंजनावाद उसका स्वागत करेगा परन्तु किसका है यह सवाल नहीं उठाया जा सकता। यहीं से आलोचना की मार्क्सवादी रेखा शुरू होती है। साथ ही जिन अमूर्त आधारों पर यह चित्र बना है वे वास्तविक हैं या अवास्तविक इसकी सबसे पहले पड़ताल मार्क्सवादी आलोचना पद्धति में ही हुई। बल्कि कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि वास्तव में केवल मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली प्रगतिशील है क्योंकि उसी में सबसे पहले साहित्यिक 'प्रिमिसेज' की वास्तविकता या अवास्तविकता का प्रश्न उठता है। यदि ये साहित्यिक 'प्रिमिसेज' वास्तविक हैं तो देश या राष्ट्र के उस वर्ग के सामाजिक जीवन से उनका लगाव होगा जो अपने सामूहिक श्रम से समाज को जीवित रखता है और उसकी भौतिक अभिवृद्धि करता है परन्तु जो आज पूँजीवाद के रक्तस्नात आर्थिक शिकंजे में कसा कराह रहा है। यही वह क्रान्तिकारी अन्तस्थ है – जनजीवन का प्राण-संचय है जो साहित्य को सच्चे अर्थों में मानवता के लिये कल्याणकारी बनाता है। मार्क्सवादी आलोचना को छोड़कर किसी भी आलोचना शैली में अन्तस्थ की जाँच द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के वैज्ञानिक तरीके से नहीं होती। मार्क्सवादी आलोचक ने ही सर्वप्रथम यह माँग की थी कि कला में तन्त्र-विन्यास और बाहर से सर्वथा निर्दोष दीख पड़ने वाला एक सौन्दर्य्य तत्व ही पर्याप्त नहीं है। वरन यह सौन्दर्य्य और तन्त्र-सुघरता या टेकनीक का प्रसाधन ऐसे साहित्य के निर्माण के लिये प्रयुक्त हो जो क्रान्तिकारी अर्थ वहन कर सके। क्रान्तिकारी अर्थ-योजना और जीवनदर्शन से रहित साहित्यिक कौशलवाद उतना ही व्यर्थ है जितना कलात्मक सुघरता और संपूर्णता से रहित क्रान्ति का सन्देश जो प्लेटफार्म के साधारण व्याख्यान से अधिक प्रभावोत्पादक नहीं होता।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है। यद्यपि सब मार्क्सवादी आलोचना क्रान्तिकारी होती है परन्तु समस्त क्रान्तिकारी आलोचना मार्क्सवादी नहीं होती। हिन्दी आलोचना में बहुतायत से चलती हुई अभिव्यंजनावादी (जिसे हम छायावादी भी कह सकते हैं) मानवतावादी (या अधिक प्रचलित शब्दों में हम उसे गाँधीवादी कहेंगे) शैलियों के अतिरिक्त आलोचना और साहित्य के मूल्यांकन की दो तीन शैलियाँ और भी हैं। इनमें एक तो क्रान्तिकारी भावुकता की शैली है जिसका प्रभाव हिन्दी के बड़े बड़े साहित्यिकों पर भी देखा जाता है। विवेक और बुद्धि के तत्वों से रहित इस प्रणाली में कुछ थोड़े से नपे तुले शब्द हैं और बात बात में 'जीवन' की दोहाई दी जाती है। अनुभव को यहाँ अत्यधिक महत्व दिया जाता है। अज्ञेयजी ने एक बार ऐसे ही आलोचकों का मज़ाक उड़ाते हुए लिखा था कि जब उन्होंने 'द्विपरिणीता' शीर्षक अपनी कविता किसी मासिक पत्र में प्रकाशित कराई तो लोगों ने उनकी पहली पत्नी के मरने पर शोक और दूसरी शादी पर खुशी प्रकट की—यद्यपि अज्ञेयजी उस समय तक अविवाहित थे। मुझे भी ऐसे आलोचकों का अनुभव है जो कहते हैं कि बिना कम्यूनिस्ट पार्टी का नियमित कार्यकर्ता बने हुए मुझे क्या अधिकार है कि मैं मिल के मज़दूर की शोषक पीड़ाओं का चित्रण करूँ। मालूम नहीं इस तरह के भावुकतावादी आलोचक जब अपनी पसन्द के रहस्यवादी कवियों की प्रशंसा करते हैं तब वे ईश्वर से उनका साक्षात्कार भी देख लेते हैं या नहीं। इन्हीं में दूसरा एक वर्ग उन उत्साही साम्यवादियों का है जो जनतावाद की अपीलों में ही साहित्य को बाँध देते हैं और एक नई साम्यवादी कला का निर्माण चाहते हैं जो भूत से बिलकुल भिन्न हो। वे समझते हैं क्रान्तिकारी और 'प्रोलतेरियत' का साहित्य बिना पूर्व प्रभावों से लाभ उठाये ही बाह्य सौन्दर्य और

अन्तस्थ की सामाजिकता में विकसित हो जायगा। परन्तु यह भूल है। कला की शताब्दियों की संचित निधि से यदि मार्क्सवादी कलाकार लाभ न उठायेगा तो उसी का नुकसान होगा। अँगरेजी के आधुनिकतम कवि 'आडन' जो अधिकतर अंशों में मार्क्सवादी हैं 'किपलिंग' जैसे कट्टर साम्राज्यवादी कवि के छन्द और संगीत में अपनी कवितायें लिखते हैं और ऐसा करने से उनके अन्तस्थ की क्रान्तिकारी सामाजिक क्षमता और बढ़ जाती है। जब साहित्य वर्ग-युद्ध का एक हथियार है तो उसे और पैना कर देना होगा ताकि वह अपने साथ बाह्य या रूप-सौन्दर्य की शक्ति भी रक्खे। यों तो सांस्कृतिक मोर्चे पर बुर्जुआ साहित्य और सर्वहारावर्गीय साहित्य का पारस्परिक संघर्ष चलता रहेगा—जैसे आर्थिक मोर्चे पर मालिक और मज़दूर के बीच में चलता है—परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मज़दूर मालिक की संस्कारशीलता और अन्य इतर सद्‌गुणों को ग्रहण न करे और यहाँ भी असहयोग और अनासक्ति का भाव रक्खे। उसी तरह सर्वहारा-वर्गीय मार्क्सवादी साहित्य को बुर्जुआ साहित्य के कला-आन्दोलनों और निर्माणात्मक सुघरताओं के सारे सुन्दर रंग ले लेने हैं। उसकी नवीनता और शक्तिमत्ता तो उसके द्वन्दात्मक भौतिकवाद से प्रभावित अन्तस्थ के चुनाव में है जो अपने में अभिव्यक्त समस्त जीवन-दशाओं को क्रान्तिकारी अर्थ और परिणति दे सके। सत्य तो यह है कि वर्तमान कभी भी अतीत और भविष्य की शक्तियों और परम्पराओं से निरपेक्ष नहीं रह सकता। भूत वर्तमान में जीवित रहता है और हम उसे जानें या न जानें—माने या न माने वह वर्तमान यथार्थ की शक्तियों को प्रभावित और प्रधावित करता है। अज्ञात रूप से उसका प्रभाव हम पर पड़ता रहता है। हम उन सब कारणों, प्रभावों जीवनदशाओं और विश्व स्थितियों की ओर मनोवेगों के अवचेतन रूप

से प्रभावित होते रहते हैं। हम उन प्रभावों को पकड़ नहीं पाते या उन्हें साहित्य की शक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं कर पाते हैं पर उनका अस्तित्व तो बना रहेगा। जैसा जेम्स टी० फेरेल ने लिखा है सत्य और सान्त्वना एक साथ नहीं रहते। यदि हम सत्य का साक्षात्कार चाहते हैं तो हमें आत्मसान्त्वना की घातक प्रणाली का या स्वइच्छा परिपूर्ति का अस्वस्थ्य साहित्यिक माध्यम छोड़ कर सत्य की कठोर और निर्मम विज्ञान-भूमि पर उतरना पड़ेगा और व्यक्तिवादी मापदन्डों से इतर एक सामूहिक जीवनदर्शन और साहित्यशास्त्र की आलोचनात्मक रेखा बनानी होगी। इसके लिये यह स्वीकार कर आगे बढ़ना होगा कि अतीत के विचार और कलात्मक सृजन के कुछ तत्व वर्तमान में बहते हुए साहित्य-प्रवाह में एक सौन्दर्यात्मक और बाह्य यथार्थता लिये हुए जीवित रहते हैं। कारण यह है कि साहित्य और संस्कृति का संघर्ष मानवता के क्रमिक विकास का ही इतिहास है और अतीत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का भी अपने युग और जीवन में क्रान्तिकारी अर्थ रहा है। कोई भी क्रान्तिवादी या प्रगतिवादी कवि यदि आज रवि ठाकुर, इकबाल, मैथिलीशरण और नज़रुल इस्लाम की काव्य परम्परा में सुरक्षित और उनकी चिन्ताधारा में जड़े हुए बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक यथार्थों को पूंजीवादी प्रजातन्त्रवाद के प्रतीक और अवशेष कह कर उड़ा नहीं सकता। इतिहास की क्रिया का साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति और कर्म के साथ एक आन्तरिक लगाव होता है और युग विशेष की समस्याओं का हल मिल जाने पर भी कला के इस समाधान में कुछ ऐसे तत्व रहते हैं जो स्थाई और आवश्यक होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और राहुलजी इन दोनों आलोचकों ने प्रगतिवाद के नाम पर खपने वाली इस अतीत द्रोह और अतीत-अवहेलना की प्रवृत्ति का खन्डन किया है और इसे एक वैज्ञानिक

जीवनदर्शन या साहित्यशास्त्र की उद्भावना के लिये घातक कहा है। मैं समझता हूँ दोनों विद्वानों की यह सलाह उचित है और प्रगतिवादियों को उस पर अमल करना चाहिये। उन्हें यह देखना और समझना चाहिये कि क्यों अब तक कोई भी फासिस्ट-विरोधीकवित या गीत सुभद्राकुमारी की 'झाँसीवाली रानी' या 'बच्चन' की 'मधुशाला' के कुछ छन्दों की भाँति लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। यहाँ मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं का तो कोई उल्लेख ही नहीं है जो भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक प्रचलित और प्रिय हैं। अतीत की समस्त कलात्मक मुघरताओं और वाह्य सौन्दर्य के साहित्यिक प्रसाधनों में ही साहित्यकार को वह सामाजिक अंतस्थ जड़न होगा जो क्रान्ति की साँस्कृतिक क्रिया में योग दे सके।

फ्रायड, एडलर आदि मनोविश्लेषण शास्त्रियों की गवेषणाओं और सिद्धान्तों के आधार पर एक आलोचना प्रणाली समीक्षात्मक नवमतवाद के रूप में हिन्दी में विकसित हो रही है जिसके सबसे प्रमुख आग्रहकर्ता कदाचित् नरोत्तमप्रसाद नागर हैं। उससे यदि आलोचना की शक्तियों में एक ओर अभिवृद्धि हुई है तो दूसरी ओर एक अतिवादी खतरा भी उपस्थित हो गया है। इस आलोचनात्मक नवमतवाद ने साहित्य के भीतर चलने वाले मानसिक व्यभिचार और स्वरति चेष्टाओं का, कला के नाम पर अपनी चारित्रिक विकृतियों को चटकीले और ऊपर से देखने में सदाचारी और क्रान्तिकारी रंगों में चित्रित करने वाले लेखकों का जहाँ उचित स्थानभ्रंशन debunking किया है वहीं दूसरी ओर इसने साहित्य को ऐसे हृदयहीन, जड़ और निरुद्देश्य स्तर पर स्थित कर दिया है कि देख कर चिन्ता होती है। जीवन की मलिन अन्तर्चेष्टाओं, कृत्रिम भावात्मकता और गुह्य अनाकाँक्षित श्रंगारिकता का जो स्वरूप आध्यात्मवादी और

पवित्रतावादी कहलाने वाले जैनेन्द्र, क्रान्तिवादी कहलाने वाले अज्ञेय और सौन्दर्य-कला-वादी इलाचन्द्र जोशी (जिनके साहित्य में उपरोक्त दोनों लेखकों की अपेक्षा विकृतियों का अन्धकार और फलस्वरूप अस्वस्थ्यता अधिक है) की कृतियों में मिलता है उसकी चीरफाड़ अवश्य होनी चाहिये। यह चारित्रिक झिझक, गोपनीयता और छिपावट, यह क्रान्ति और परिवर्तन-दर्शन के नाम पर रसात्मक 'बहिनवाद', यह मानव की चिरन्तन और गूढ़ वृत्तियों के विश्लेषण के नाम पर एक मानसिक क्षय और सोलहों आने अनिर्णयात्मक दृष्टिकोण का प्रसार—इन सबका कठोर परीक्षण साहित्य में होना चाहिये और अवश्य होना चाहिये। दमित इच्छाओं के विस्फोट की यह कृत्तिम प्रणाली लेखक के रहस्यात्मक रूपकों के भीतर से खींच कर बाहर की स्वस्थ्य आलोचना-भूमि पर लाई तो जाय परन्तु इसके लिये केवल पाश्चात्य विचारकों और मनोविश्लेषण के आचार्यों के टुके पिटे नुस्खों से या अत्यधिक टेकनिकल प्रयोगों से जो रसवाद की कोई मान्यता नहीं मानते और एक कठोर इतिवृत्तात्मक स्वरूप में ही साहित्य को सीमित कर देना चाहते हैं काम नहीं चलेगा। साथ ही इस आलोचना प्रणाली में जो शुरू से लेकर अन्त तक एक नकारात्मक भावना होती है—एक निरुद्देश्य निरंकुशता का चक्र चलता है उसे साहित्य की समाजवादी सोद्देश्यता और विशुद्ध, सुस्वस्थ्य, आदर्शवादी सप्रश्नता में बदलना होता। यहाँ भी कैसे और कहाँ से के स्थान पर क्यों और किसलिये का प्रश्न साहित्य के सृजन को लेकर खड़ा करना होगा। दूसरी ओर एक क्रमबद्ध मनोविज्ञान की नियोजना भी साहित्य में करनी होगी और अतिशय भावनावादी लेखकों के तूफान के पत्ते की तरह लपकते करते मन को एक सुसंतुलित आचारदर्शन और कर्म या व्यवहारविज्ञान के साँचे में ढालना होगा। रसवाद

के प्रभावात्मक गुणों की अवहेलना से भी काम नहीं चलेगा। साहित्य में रस की सत्ता माननी ही होगी। बिना रस-सृष्टि की क्षमता उत्पन्न किये साहित्य स्थाई और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता। इस आलोचना-शैली ने जहाँ एक ओर साहित्य में अति साधारण या 'मीडियाकर' चरित्रों के निर्माण और उद्‌घाटन पर ज़ोर दिया है वहीं दूसरी ओर जीवन के उन समस्त रस स्रोतों के अस्तित्व का या तो मज़ाक उड़ाया है या उन्हें अस्वीकार किया है जो साहित्य को रसपूर्ण और मधुसिक्त बनाते हैं। उन नकली रहस्यात्मक रूपकों का जो सामाजिक शक्तियों से मुँह छिपा कर शुतुरमुर्ग पुराण लिखाया करते हैं अवश्य ही भंडाफोड़ होना चाहिये परन्तु व्यक्तिवादी विकृतियों के स्थान पर व्यक्तिवादी साधारणता और इतिवृत्तात्मकता की स्थापना के लिये नहीं वरन सामाजिक अपूर्णताओं, समस्याओं और असंगतियों का वास्तविक समाधान देने के लिये। साथ ही यहाँ मानव मात्र के चरित्र में व्याप्त स्वप्नशीलता और भावनात्मक रंगीनियों के लिये भी कुछ छूट देनी पड़ेगी जो स्वानुभूत जीवनदर्शन और स्वार्जित शक्ति के बावजूद साहित्यकार में रहती हैं। इस आलोचना प्रणाली की दूसरी दुर्बलता उसकी अतिशय व्यक्तिवादी विश्लेषणा या मीमांसा है। वर्गगत जातिगत जीवन को देखने के बजाय इसमें व्यक्ति का वह स्वरूप परखा जाता है जो अतिशय निर्लिप्त होता है। और सामाजिक एकता या उपयोगिता से बिलकुल कट कर प्रतिक्षण एक मनोवैज्ञानिक निर्पेक्षता का दावा करता है। इसीलिये स्वच्छ सशक्त समाजवादी आदर्शवाद के विकास की संदिग्धता यहाँ भी बनी रहती है। जिस समाज-वादी आदर्शवाद में मेरा विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ़ हो रहा है उसमें व्यक्तिवादी सौख्य, प्रगति और जीवनदर्शन के लिये कहीं भी स्थान नहीं है। जिस साहित्य में ऐतिहासिक और प्राकृतिक-सामाजिक

प्रवृत्तियों और आकाँक्षाओं को अभिव्यक्ति मिलेगी और एक संगठित वैज्ञानिक जीवनयोजना का निर्माण किया जायगा उस पर उपरोक्त आलोचना प्रणाली लागू न होगी। आवश्यक यह है कि नकली, ह्रासोन्मुख और अतिशय भावनावादी सामाजिकता के स्थान पर स्वस्थ्य, सबल, सकर्मक और स्वाभाविक—प्रगतिशील और वैज्ञानिक सामाजिकता का प्रादुर्भाव साहित्य में हो। जैनेन्द्र जैसे ऊपर से देखने में समाजवादी पर भीतर से घोर व्यक्तिवादी या अज्ञेय जैसे ऊपर से देखने में क्रान्तिवादी पर भीतर से मूलतः और पूर्णतः सेक्सवादी लेखकों की कृतियों की इस प्रणाली के अन्तर्गत की गई आलोचना से पाठकों को पता लग जाता है कि आदर्शवाद के नाम पर चलने वाली अस्वस्थ्य वस्तुवादी रचनाओं से वे धोखे में न पड़ें। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनोविश्लेषण की आलोचना-प्रणाली में नकली आदर्शवाद के बहिष्कार पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना ही आग्रह सजीव और वैज्ञानिक-सामाजिक यथार्थों से निर्मित समष्टि-आदर्शों पर भी किया जाय। अन्यथा यह प्रणाली वैज्ञानिक होते हुए भी अपूर्ण रह जायगी और आदर्शवाद से प्रेरित होते हुए भी सामाजिक निर्माण की शक्तियों को जाग्रत न कर सकेगी।

आलोचना की जिस मानवीयतावादी पद्धति का पग पग पर रामनाथ 'सुमन', जैनेन्द्र और हरिभाऊ उपाध्याय पग पग पर समर्थन करते हैं वह साहित्य के कला पक्ष की उपेक्षा तो करती ही है, एक भावनात्मक भ्रम भी पैदा करती है। साहित्य विग्रह की शक्ति नहीं सुखद सामंजस्य की शक्ति है और समाज के अहिन्सात्मक और शान्त नवनिर्माण में उसे योग देना चाहिये—त्याग, कष्टसहन, आत्म-बलिदान और आध्यात्मिकता की दीक्षा देकर—यह सब सुनने में तो इतना दैवी और अति-मानवीय लगता है कि सिर संभ्रम से झुक जाता

है। परन्तु यथार्थता की तीव्र चीरफाड़ में यह विक्टोरियन युग का वह अकर्मण्य समझौते का नीतिदर्शन है जो सदैव समाज के धनी और पूँजीवादी वर्ग का साथ देता है। इस आलोचना-स्कूल में श्रेणी-संघर्ष की मार्क्सवादी मान्यता को विशृंखला का एक हिंसक और अशिव योजना कह कर ठुकरा दिया जाता है और उनके स्थान पर मेल, सद्भाव, चारित्रिक उच्चता, सत्य की साधना, सत्याग्रह, हृदय परिवर्तन और आत्मिक सत्ता की आवाज़ पर प्रबल आस्था प्रदर्शित की जाती है। मानव की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के आध्यात्मीकरण पर इसका विशेष आग्रह है। वैयक्तिक पूँजीवाद के अन्त का आश्वासन दिलाकर उसके लिये कोई चेष्टा न कर यह जीवनदर्शन शोषकों द्वारा शोषितों के हो रहे जीवन-शोषण और श्रम की इस व्यवस्थित लूट का समर्थन करता है और श्रेणी संघर्ष की वैज्ञानिक, ऐतिहासिक मान्यता को महत्व न देकर वैयक्तिक मुक्ति और सुधार के सपने सजाया करता है। साहित्य की सृजनात्मक भूमि पर आकर वह एक pedantic mediocrity को तो प्रश्रय देता ही है जीवन के कठोर यथार्थ-निरूपण को भी अशिव और अव्यौहारिक ठहरा देता है। श्रीहरिभाऊ उपाध्याय द्वारा उठाये गये साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता के प्रश्न और उनसे बड़े प्रचारक किन्तु अपेक्षाकृत कहीं कम साहित्यिक अन्तर्दृष्टि और आलोचनात्मक क्षमता रखने वाले बनारसीदासजी चतुर्वेदी द्वारा किया गया 'उग्र' और 'निराला' जैसे युगान्तरकारी कलाकारों का विद्वेषपूर्ण विरोध और उन कलाकारों की तुलना में सस्ते लेखकों और कवियों का उनके द्वारा समर्थन मेरे बात की पुष्टि के पर्याप्त प्रमाण हैं। लगता है जैसे साहित्य की बलवती शक्तियों को आचारिकता की रूढ़ और अप्रगतिशील मान्यताओं पर कसने के बाद साहित्य शास्त्री के लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता और वह संस्कृति की रक्षा के नाम

पर सदैव उन आन्दोलनों का विरोध करता जाता है जो समाजवादी यथार्थों को परखते हुए समाजवादी आदर्शवाद की जीवनभूमि पर आते हैं। स्थानाभाव और 'जीवन साहित्य' की पूरी फाइल मेरे पास न होने से इस सम्बन्ध में अधिक लिखना मेरे लिये यहाँ कठिन है। यदि हो सका तो कभी एक स्वतंत्र लेख लिख कर आलोचना की इस परिग्रतावादी प्रणाली का पूर्ण परिचय कराऊँगा। यशपाल की 'गाँधी-वाद की शव परीक्षा' में इस महान जीवनदर्शन की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को विस्तार से समझाया गया है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उसे यहाँ सामाजिक परिवर्तनों, क्रान्तियों और स्वस्थ-तर, श्रेष्ठतर, आर्थिक दृष्टि से अधिक सुखद और सौख्यप्रद जीवन के प्रवर्तन का आन्दोलक न मानकर उसे केवल अन्तःशुद्धि और वैयक्तिक आचारशास्त्र का प्रणेता माना जाता है। सामाजिक यथार्थों के परिष्कार और आर्थिक उन्नति का माध्यम न स्वीकार कर साहित्य को व्यक्ति की मुक्ति और अहिंसा का व्यवहारदर्शन माना जाता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ऐतिहासिक तत्व भूमि पर समाज के नव-निर्माण की बात सोचना भी यहाँ अपराध है क्योंकि यहाँ द्वन्द्व, विग्रह और संघर्ष के लिये स्थान नहीं है। श्रमिकों और कृषकों को अहिंसा-पूर्वक ज़मीदारों और पूँजीवादियों के हृदय परिवर्तन की प्रार्थना करनी चाहिये। यहाँ घृणा और सामाजिक वर्ग-चेतना के लिये स्थान नहीं है—यहाँ तो अखण्ड मानवीय प्रेम की सत्ता है। प्रेम विह्वल सर्व-हारा को कभी भी पूँजीपतियों और मालिक वर्ग के लोगों के हाथों से राजनैतिक शक्ति छीनने का उद्योग नहीं करना चाहिये क्योंकि यह सब तो हिंसा और अनैतिकता है। यहाँ तो सन्तोष का मन्त्रबल है, वैज्ञानिक मशीनवाद के विरोध स्वरूप ग्राम्य उद्योगों के पुनर्निर्माण की योजना है और वर्तमान श्रम-शोषक समाज-व्यवस्था के पूँजीवादी

स्वरूप को स्थिर रखने के लिये संगठित प्रयत्न हैं जिनके समर्थन में जैनेन्द्र जैसे सुयोग्य लेखक कष्ट-सहन और आध्यात्मिक साधना के अनुयायी बन जाते हैं और कभी भी उस सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता अनुभव नहीं करते जो वर्तमान सामाजिक श्रेणियों को मिटाकर वर्गहीन और समाजवादी समाज की स्थापना करे। मनुष्य की सुधारोन्मुख प्रवृत्तियों पर अधिक विश्वास रखने वाले और घृणा और विग्रह की अपेक्षा प्रेम और अहिंसा पर अधिक उत्साहपूर्ण आग्रह करने वाले ये आलोचक कहते हैं—हमें तो मार्क्सवादियों की अपेक्षा मानव के सद्गुणों और चारित्रिक विकास की संभावनाओं पर अधिक विश्वास है। हम प्रेम के बल से, दुनिया में हृदय परिवर्तन की 'डाक्टरिन' के सहारे समाज को बदल देंगे। हमारी समाज व्यवस्था में पूँजीपति और मज़दूर दोनों का कल्याण होगा—ज़मीदार और किसान दोनों के स्वार्थ सुरक्षित रहेंगे। परन्तु यह मिथ्या और भ्रम है। जनता के सबसे बड़े क्रान्तिकारी वर्गों को सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति की ओर से विमुख करके उन्हें स्वदेशी और विदेशी के, चर्खा और तकली के, सत्य और अहिंसा के एक जटिल समूह में फँसा देने का फल यही हुआ है कि जनता और श्रमजीवियों के बन्धनों की बेड़ियाँ और कसती चली गई हैं। साहित्य की सृजन भूमि और आलोचना-स्तर पर आकर यह स्वरूप और भी स्पष्ट हो जाता है। जैनेन्द्र जी जो हिन्दी के एक प्रमुख गाँधीवादी आलोचक और साथ ही कलाकार हैं सदैव अपनी कला से पाठक के हृदय में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं वह असामाजिक और वैयक्तिक होती है। इस क्रिया के व्यक्तिवादी पहलू को लेकर ही वे अपनी कृति द्वारा पैदा की गई आशा या निराशा की प्रतिक्रियानुभूति का निर्णय करते हैं। यह व्यक्तिवाद का अहम् है। उनके साहित्य में घटनाओं का स्वरूप और अर्थ, उसके व्यंगार्थ, और

इन व्यंगार्थों से उनकी कला का स्वाभाविक लगाव यह सब साहित्य का जो सामूहिक दिशा है और एक वैज्ञानिक या क्रान्तिवादी आलोचक के लिये जिसका अधिक महत्व है वह उनके हाथ से छूट जाती है। अपने कथा साहित्य और आलोचनात्मक प्रवचन दोनों में उनके हाथ लगता है एक असामाजिक और खंड खंड विश्वास और अंध श्रद्धा का दर्शन जो सामाजिक प्रभावों की आंच में कभी टिक नहीं सकता। यही कारण है उनकी कृतियाँ (त्यागपत्र, कल्याणी आदि) प्रभावपूर्ण और कलात्मक होते हुए भी एक नकली और वैयक्तिक सामाजिकता की अनुभूति और दर्शन को ही लेकर चलती हैं। अपने से बाहर की दुनिया का वास्तविक रूप—अपनी आत्मस्वीकृतियों के आगे समाज की द्वन्दात्मक जटिलता और श्रेणी संघर्ष का ऐतिहासिक बोध यह सब वे कुछ नहीं दे पाये। और स्टैलिन के व्यक्तित्व मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व को अधिक क्रान्तिकारी मानने वाले अज्ञेयजी से क्या कहा जाय! वे तो एक सबल और स्वस्थ्य रचनाकार होते हुए भी अपनी कल्पित महानता और ख़ुदी के अकुन्ठित आत्मगान में इतने ऊँचे उठ जाते हैं कि मेरे जैसी एक साधारण सामाजिक इकाई को हिन्दी के इस 'नीत्शे' के सामने भयभीत होजाना पड़ता है। क्रान्ति के लिये क्रान्ति जिसे विप्लवगा कहते हैं—वही अराजकतावादी आतंकवाद और वही असामाजिक विप्लव-वृत्ति अब तक उन्हें घेरे हुए है और अपनी अहमन्य भावुकता के द्वारा वे उसे खोराक पहुँचाया करते हैं।

पुस्तक में पाठकों को बहुत सी खामियाँ मिलेंगी। स्वस्थ्य और एकाग्रचित्त से बैठकर ये लेख नहीं लिखे गये हैं। अपनी अधकच्ची पढ़ाई के बल पर जैसी बड़ी बड़ी बातें अपने छोटे मुँह से मैंने की हैं उनमें यदि किसी को कोई अनौचित्य दीखे तो मैं करबद्ध क्षमा-प्रार्थी हूँ। परन्तु आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों यही बातें

समाज को अधिक प्रौढ़, सार-सम्पन्न और कार्याश्रित स्वरों में सुनने को मिलेगा। यह सांस्कृतिक प्रश्न है और हमने अबतक समाज के सब से बड़े, श्रम-उत्पादक और उसके आर्थिक ढाँचे की रीढ़ जैसे वर्ग को समस्त सांस्कृतिक सौख्यों से वंचित रक्खा है। हमारे साहित्य में—हमारी कला में उनके जीवन का चित्र ही नहीं उतरा। दूसरी ओर हमने साहित्य और कला को कभी उनकी मुक्ति-संग्राम के एक प्रबल और पैने अस्त्र के रूप में विकसित नहीं किया। इस वर्गगत अहम् और सामाजिक तटस्थता का अन्त अब साहित्य में होना चाहिये। मैंने एक प्रकार से वर्तमान साहित्य की 'स्टाक टेकिंग' करने का यत्न किया है और जिन सिद्धान्तों के प्रकाश में यह हुआ है उनसे किसी भी जनतावादी लेखक या कवि को मतभेद नहीं होगा। बूर्ज्वा सौन्दर्य्य प्रेमियों और साहित्य को आध्यात्मिक मुक्ति और 'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानों' मानने वाले या एक झूठी राष्ट्रीयता और सांस्कृतिकता के नाम पर पूँजीवाद की प्रतिक्रियाशील शक्तियों का साथ देने वाले साहित्यकर्मियों को यह पुस्तक प्रचार मालूम हो सकती है। परन्तु वाद या प्रचार न तो बुलाने से आते हैं न भगाने से भागते हैं। समाज की जीवन-विषमता और श्रेणी-शोषण की असंगतियों और क्रूरताओं में उनका जन्म होता है और कला को वैयक्तिक वेदना, आवेग, आचार और उपजीवी वर्ग के अनुभव से आगे लेजाकर ये वाद उसे ज्ञान के विकास और वैज्ञानिक कर्म के आँगिक अर्थात् राजनीति और वर्ग-संघर्ष के साधन के रूप में विकसित करते हैं।

अंचल

सुरेन्द्र बालूपुरी को

प्रगतिवाद ही क्यों?

आज साहित्य में प्रगतिवाद को लेकर जो इतना विवाद चल रहा है वह साहित्य की जागरूकता और बौद्धिक चेतना का निर्देशक है। उसके गुण-दोषों की चर्चा और अनुशीलना के प्रति ऐसी तत्परता संभवतः इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिवाद एक जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान की प्रवृत्ति और गहराई को लेकर अवतीर्ण हुआ है। इसलिये जो लोग उसमें आग और ज्वाला ढूँढ़ते हैं उन्हें गर्मी भी मिलती है और जो लोग रोशनी चाहते हैं उनकी भी आँखें एक नई दुनिया में खुलती हैं। उसमें एक ओर यदि सामूहिक चेतन भावना के लिये अपील है तो दूसरी ओर नवीन युग का वास्तविक विश्वबोध भी है। व्यक्ति और वर्ग के अन्दर से उठकर जो प्रेरणायें कल देश और समाज की शक्तियाँ बनने वाली हैं उन्हें एक आन्तरिक ठहराव उसमें मिलता है। जनवाद की शक्तियों का पूर्ण विकास, जन मानव की पूर्ण मुक्ति और स्वतंत्रता जो सामाजिक और सामूहिक क्रियाशीलता पर आधारित हो—यही उसका लक्ष्य है। समाजवाद के भीतर से व्यक्ति का सच्चा अभ्युदय ही उसका ध्येय है। इसीलिये उसकी सृष्टि सीमाहीन और बाधाहीन है।

प्रगतिवाद को जो लोग केवल एक दृष्टिकोण मानते हैं वे भी अब यह अनुभव करने लगे हैं कि वह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। वह इतिहास और तर्क, समाज शास्त्र और मनोविज्ञान के आधार पर चलता है। केवल विश्वास और संस्कार के आधार पर नहीं खड़ा है। वह सत्य को एक सामाजिक शक्ति मानता है। उसे ईश्वरीय अंग बता कर मनुष्य के वश और शक्ति के परे की वस्तु नहीं ठहरा देता। सामाजिक

व्यवस्था बदलने का वह मनुष्य का अधिकार स्वीकार करता है, उस पर ज़ोर देता है, उसे विकसित करता है। यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के शब्दों में कहें तो वह स्थिति में विरोध पैदा होने या करने और संघर्ष के परिणाम-स्वरूप विकास के लिये नई स्थिति के पैदा होने या करने को ही जीवन की प्रगति का आधार मानता है। यही मनुष्य स्वभाव की प्रकृति है—यही उसकी प्रगति है। इसी लिये आज प्रगतिवाद का विरोध नये आदमियों, नई अवस्थाओं, नये विचारों और नई आकाँक्षाओं से विरोध है। प्रगतिवाद समाज से शोषण की व्यवस्था को समाप्त कर श्रेणी-रहित जन समाज की स्थापना पर विश्वास करता है। कारण स्पष्ट है। मनुष्य का जीवन पैदावार के साधनों पर निर्भर करता है। पैदावार के साधनों पर जिस व्यक्ति या श्रेणी का अधिकार होगा उसी के फैसले और हित के विचारों से समाज की व्यवस्था चलेगी। इस दृष्टि से यदि प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाता है तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती। इसी को मैं दूसरे शब्दों में सब का हित या सब का सुख मानता हूँ।

"और सबका सुख चरम उत्कर्ष मानव की प्रगति का।"

जिस प्रकार समाजवाद का अर्थ है मनुष्य के जीवन का सामाजिक या सामूहिक तरीका, वैसे ही प्रगतिवाद का अर्थ है साहित्य का सामाजीकरण या साहित्य को केवल व्यक्ति के सुख-दुख, जन्म-मरण, आशा-आकाँक्षा और उल्लास-वेदना की अभिव्यक्ति का साधन न बना कर समाज की पीड़ा, ग्लानि, उतार-चढ़ाव, हर्ष-उद्वेग, उमंग और कुतूहल, को वाणी देना। अनुभूति को जो लोग अब तक स्वानुभूति ही समझ रहे हैं उन्हें अब साहित्य के निश्चयात्मक आधार और संकल्पात्मक प्रवृत्तियाँ भी बदलती दीखेंगी। परन्तु मजबूरी है। यहां जो लोग श्रेणी

संघर्ष का भय देखते हैं उन्हें जीवन की यथार्थताओं को आँखें खोल कर देखना होगा। समाज में जो भी परिवर्तन होता है श्रेणी संघर्ष से ही होता है। हम आज वर्ग-समाज के प्राणी हैं। श्रेणी संघर्ष तो उसमें एक क्रिया की तरह अनवरत चलता आया है, चल रहा है। ज़रूरत सिर्फ़ उसे आँख खोल कर देखने की है। समाज का सामान्य विकास और एक स्थिति पर पहुँच कर उस विकास का पुंजीभूत होकर गुणात्मक परिवर्तन, क्रांति की शकल में फूट पड़ना दोनों के पीछे काम करने वाली प्रक्रिया श्रेणी संघर्ष है।

प्रगतिवाद पर यदि प्रचार का आरोप लगाया जाता है तो वह कोई आरोप नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य भावों और विचारों का वाहक होता है; वह रचना की तृप्ति का अवसर देने या कला के लिये मार्ग की खोज के साथ-साथ एक दूसरी पूर्णता का आधार भी प्रस्तुत करता है। यह आधार समाज की मौजूदा परिस्थिति में क्रमागत आचार और नैतिक धारणाओं में पग-पग पर खटकते हुए विरोध को उभारे बिना नहीं पनप सकता। तभी परिस्थितियों की अव्यवस्था और धारणाओं में सामंजस्य स्थापित होगा। आखिर आचार और नैतिकता का उद्देश्य भी तो मनुष्य को व्यवस्था और विकास की ओर ले जाना है। इसलिये इस उलझन से निपटने के लिये राह निकालनी पड़ेगी।

प्रगतिवाद को जो लोग कल्पना का विरोधी कहते हैं वे अन्याय करते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रगतिवादी की कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकता में होता है। इसलिये प्रगतिवाद में कल्पना केवल बीते सुख-दुख की अनुभूति के चित्र बना कर उससे सुख नहीं उठाती। वह आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिये नया नक्शा भी तैयार करती है। प्रगतिवाद का उद्देश्य समाज का विकास है। समाज की जीर्ण और ह्रासोन्मुख व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आने के

पूर्व विचारों में क्रान्ति आना आवश्यक है और इसीलिये यह एक प्राकृतिक क्रम है। प्रगतिवाद उसी की भूमि तैयार कर रहा है। प्रगतिवाद ने देखा है और समझा है कि समाज के विकास का रास्ता आगे बन्द हो रहा है। जैसे जैसे समाज की जरूरतें बढ़ी और बदलीं वैसे-वैसे उसके क्रम में परिवर्तन नहीं हुआ। प्रगतिवाद जिस नवीन क्रम विशेष या व्यवस्था के अनुसार मनुष्य समाज को संचालित करना चाहता है उसमें व्यक्ति की परिस्थितियाँ या अनुभव उतने प्रभावपूर्ण नहीं होंगे जितनी समाज की परिस्थितियाँ और उसके अनुभव। उनके महत्व को प्रकट करना प्रगतिवाद की एक जिम्मेदारी है। उसने उसे समझा है। व्यक्ति मृत्यु की दृष्टि से जीवन को देखता है। समाज, संस्कृति के विकास की दृष्टि से। पहले के लिये मृत्यु चिर सत्य है। दूसरे के लिये चिर सत्य है जीवन की जड़ें और गहरी करना जीवन से सम्बन्ध-स्थापक तन्तुओं को दृढ़ और प्राणवान बनाना। प्रगतिवाद की मान्यता है कि मनुष्य का जीवन व्यक्तिगत रूप से ही पूर्ण नहीं है वरन् वह समाज और 'स्टेट' के शरीर का एक जीव कोष्ठ है। ऐसी दशा में मानव समूहों के परस्पर संघर्ष और सामाजिक संगठन के प्रश्न व्यक्ति के ऐकान्तिक अहम् के ऊहापोह से अधिक महत्व रखते हैं।

प्रगतिवाद को बिना समझे उस पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह संस्कृति का मूलोच्छेद करना चाहता है और अतीत की समस्त कला-कृतियों को उसकी मान्यताओं के साथ ही नष्ट कर देना चाहता है। यह एक घोर भ्रम है। प्रगतिवाद संस्कृति का नाशक नहीं वरन् उन सभी शक्तियों, आन्दोलनों और प्रवृत्तियों का शत्रु है जो संस्कृति को या तो नष्ट करती हैं या उसकी धारा का अवरोध करके उसे गतिहीन बना देती हैं—उसे केवल थोड़े से लोगों के स्थायी उपयोग की ही वस्तु मानती हैं। आज जो सारे संसार में प्रगतिवाद फैसिज़्म से

युद्ध कर रहा है उसके मूल में पहली बात है। फैशिज़्म संस्कृति और उसके समस्त प्रतीकों का संहारक है। जो महायुद्ध इस समय हो रहा है उसमें जहाँ-जहाँ नाज़ी और जापानी सेनाओं ने अधिकार किया है वहाँ-वहाँ कला साहित्य और संस्कृति के समस्त संग्रहालयों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। विश्व पूज्य साहित्यकारों के स्मारकों को पददलित और नष्ट किया है। प्रगतिवाद संस्कृति को एक 'स्टेटिक' चीज़ न मानकर उसे एक 'डायनेमिक' शक्ति मानता है। उसके विकास और उन्नयन पर ज़ोर देता है। साथ ही वह उसे (कला और साहित्य की भाँति) केवल उच्चवर्ग की विरासत न मान कर जन सुलभ कर देना चाहता है। वह संस्कृति की प्रसरणशीलता का उद्योगी है। केवल थोड़े से वर्ग की चीज़ बन कर साहित्य किस प्रकार जीवन से टूट जाता है और रूढ़ियों और रीतियों के गहन जाल में घुटा करता है, यह विश्व-साहित्य के इतिहास में हर जगह देखा जा सकता है।

साहित्य के तत्व सदैव जीवन से आते हैं। प्रगतिवाद आज सार्थक साहित्य का ही पर्याय है। उसका मताधार है वास्तविकता--भले ही वह वास्तविकता स्थूल हो या सूक्ष्म हो। साहित्य में एक जो नकली और निर्दोष दीख पड़ने वाला कलात्मक तथ्य बात-बात पर खोजा जाता है वह अक्सर झूठा और बनावटी होता है। उसमें तो जीवित मानवता के सामाजिक शक्ति-युक्त सत्य की खोज होनी चाहिये। हमारे व्यापक सामाजिक विधान को प्रभावित और सही दिशा में प्रधावित करने का यत्न उसमें होना चाहिये। सामाजिक विकास का मार्गावरोध व्यक्तिवाद से होता है, जो व्यक्ति स्वातंत्र्य से मूलतः भिन्न चीज़ है। प्रगतिवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का पोषक और व्यक्तिवाद का शत्रु है। प्रेमचन्द ने प्रथम प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से कहा था, "हमारे पथ में अहंवाद या अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को

प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है। और ऐसी कला न हमारे लिये व्यक्ति रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में।" कला कोई ऐसा रुचिगत मानसिक या आध्यात्मिक आनन्द नहीं है जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है। प्रगतिवाद के अन्दर यह सौन्दर्य की भावना व्यापक हो जाती है – उसकी परिधि किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित नहीं होती। तभी ऐसा लगने लगता है जैसे जन-जन के जीवन में व्याप्त कुरूपता, कुरुचि, नंगापन और अभाव हमारे अपने ही हैं और हम क्यों ऐसी व्यवस्था की जड़ें खोदने के लिये कटिबद्ध नहीं होते जिसमें हज़ारों आदमी कुछ चुने हुओं की गुलामी करते हैं। क्यों न ऐसे नये और अभ्युदयशील विधान की सृष्टि की जाय जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म-सम्मान और मनुष्यता का पोषक हो। कर्म का यह सन्देश, जोश की यह पुकार प्रगतिवाद के भीतर से आती है। उसी के अन्दर से अशान्त यौवन की वह उन्मादना फूटती है जिसमें तप कर मानव, जाति के ऊपर जाति का, श्रेणी के ऊपर श्रेणी का और व्यक्ति के ऊपर व्यक्ति का अत्याचार, परम्परा और कर्मफल, भाग्य दोष और दैवी अनुशासन आदि भित्तिहीन युक्तियाँ उपस्थित करके स्वीकार न करेगा, बस विद्रोह की आग लगावेगा।

"प्रगतिवाद ही क्यों" के उत्तर में यह कहना है कि वही आज देशव्यापी दुर्व्यवस्था के छिपे कारणों को उलट रहा है। वह भावों के क्रियात्मक रूप पकड़ता है। मानव ट्रेजेडी और विश्व ट्रेजेडी के मूलगर्तों में वह एक दृढ़ प्रबुद्ध संयत गतिविधि लेकर जाता है और जीवन के संस्कार, भावी संस्कृति के अविकृत उपादान और मनुष्यत्व के मूलतत्व चुनता है, जिनसे नव मानवता का निर्माण हो सके। जनता

के अहं और उपचेतन की गहराइयों में वह एक नया किन्तु अमर प्राण ला रहा है। समाज के खुले हुए जीवन की पृष्ठ-भूमि पर वह व्यक्ति जीवन के आरक्त प्राण बीजों को खोज-खोल कर रखता जाता है, एक स्वस्थ निश्छल उत्साह के साथ। प्रगतिवाद मनुष्य के मन में भावी समाज-व्यवस्था को न्याय एवं साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिये, कल्पना को वास्तव रूप प्रदान करने की प्रेरणा देता है। वही मानव की संस्कृति की प्रवाहवान धारा को इस समय आगे बढ़ा रहा है, मार्ग के अवरोधक रोड़े-पत्थरों को दूर करके। वह जीवन के सम्पर्क से विच्छिन्न कल्पना और रस विन्यास को स्वीकार नहीं करता। वह केवल मुट्ठी भर लोगों के मनोरंजन और उपयोग के लिये समष्टि के सुख-दुःख की उपेक्षा नहीं करता। वह इतिहास की अनिवार्यताओं को स्वीकार करता है। केवल भाव विलासी मानव मन के प्रति ही उसका आवेदन नहीं होता। वह मानव की विचार बुद्धि को भी पुकारता है। नैराश्य और अवसाद से ग्रस्त हमारे वर्तमान समाज की व्यर्थता का उसने अनुभव किया है। एलियट के शब्दों में इस (Decayed house) क्षयग्रस्त समाज व्यवस्था के अवसान की कल्पना, चेष्टा, एवं न्याय तथा साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा का आग्रह उसमें है। उसी के उपादान आज वह साहित्य में संचित कर रहा है और उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। वर्तमान जगत के अर्थनैतिक वैषम्य और तज्जनित दुःख और वेदना के गंभीर रूप से वह परिचित है और इस दिशा में सचेतन-सक्रिय है। प्रगतिवादी लेखक औरों की अपेक्षा यह अच्छी तरह जानता है कि संसार में इस समय जो दो परस्पर विरोधी धारायें चल रही हैं उनसे वह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता। अर्थात् या तो उसे प्रगतिशील बनकर श्रमजीवी श्रेणी के साथ चलना पड़ेगा या प्रतिक्रियाशील फैशिज्म का पक्ष

पकड़ना होगा। एक आधुनिक कवि के शब्दों में (Only ghosts can live between two fires) केवल भूत प्रेत ही दो ज्वालाओं के बीच में रह सकते हैं। स्पष्ट है कि वह साहित्य को समाजचेतना और ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति के ऊपर खड़ा करके जीवन और समाज की समस्त विषमताओं और असंगतियों को नष्ट कर देना चाहता है। भविष्य की शक्तियों पर, समय के बलवान स्रोतों पर उसका अविचल विश्वास है। सिसिल डे लुइस के शब्दों में वह जीवन के लाल प्रवाह का विश्वासी है जो समाज की व्यवस्था में अनुभव होने वाली अड़चनों को परिवर्तन या क्रान्ति द्वारा दूर करेगा।

प्रगतिवाद को अक्सर श्रद्धा का विरोधी कहा जाता है। यह एक सीमा तक ठीक भी है। परन्तु वह अन्ध श्रद्धा की भाँति अन्ध अश्रद्धा को भी पाप मानता है। जो कुछ उपयोगी है—ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामाजिक प्रगति के सिद्धान्तों का पक्षपाती है—उसके आगे, सांस्कृतिक क्रान्ति के आन्दोलनों के सामने वह नत है। जिस स्थल पर तर्क, संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न कल्पना सब घुल मिलकर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक और साकार हो जाते हैं वहाँ प्रगतिवाद की श्रद्धा आपसे आप उमड़ने लगती है। प्रगतिवाद में श्रद्धा बुद्धि की अनुयायिनी है और जीवन के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर प्रियता अप्रियता के नहीं वरन सत्य मिथ्या के बोध से परिचालित होती है। नवीन वस्तुस्थितियों के अनुरूप रूपान्तरित होते रहने की उसकी मौलिक क्षमता जाग्रत रहती है।

साहित्य की समस्त नई धारायें प्रगतिवाद के भीतर आती हैं। तर्कवाद, स्वस्थ्य और विद्रोही यथार्थवाद, विज्ञानवाद और बुद्धिवाद,

पीड़ितों और निम्न से निम्न पददलितों के प्रति बंधुत्व भाव का प्रदर्शन, जीवन की वास्तविकता के निकट आने तथा आज की अन्धकार-पूर्ण अव्यवस्था से मुक्त होकर एक नये समाज का निर्माण करने के लिये कष्ट और यातनायें भोगने वाले संसार की प्रखर और आवेगहीन, प्रबुद्ध आत्मा की अभिव्यक्ति का प्रयत्न सब उसमें है। जीवन की जटिल गुत्थियों के भीतर से आधुनिक प्रवृत्तियों के विभिन्न सूत्रों को पृथक् करने का जैसा सारगर्भित प्रयत्न उसमें हो रहा है वह उसके लेखकों की संशयात्मक प्रकृति के कारण अपने पूरे ज़ोर पर अभी नहीं उभर पाया है परन्तु नवयुग की आत्मा की बौद्धिक और रसात्मक छटपटाहट उसमें दीखती है। साथ ही प्रवृत्तियों और भावों का सामाजिक जीवन (Social conditions) क्या है और समाज और वर्ग के इतिहास के विकास में उनका क्या स्थान है यह भी प्रगतिवाद हल करता है। प्रगतिवाद की मान्यता है कि कला कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है जो अपने ही ऊपर ज़िन्दा रह सके बल्कि वह सामाजिक मनुष्य के उद्योग का नतीजा है और उसके जीवन और वातावरण से सम्बन्धित है। ऐतिहासिक प्रगति का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य का विकास समाज की दिशा में होता है और समाज का इतिहास की दिशा में। इसे ही हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

प्रगतिवाद और विप्लववाद को बहुत से लोग एक ही चीज़ समझते हैं। उसमें भ्रम फैल जाता है। स्मरण रहे कि अब तक हमारे साहित्य में विप्लववाद का जो रूप मिलता है वह ऐकांतिक और व्यक्तिवादी ही रहा है। उसे एक प्रकार का ओजस्वी भाव-विलास कहा जा सकता है। प्रगतिवाद में मूल्यांकन के मान सामाजिक हैं। विप्लववाद भावना और केवल भावना पर आश्रित होता है जब कि प्रगतिवाद में भावना का और बुद्धि एवं तर्क-संगति का उचित सामंजस्य रहता

है। प्रगतिवाद विनाश और निर्माण के मार्ग एक साथ दिखाता है, सृजन और संहार की प्रेरणायें एक साथ देता है। जहाँ कहीं आमूल संहार की आवश्यकता नहीं है—केवल एक पुरानी प्रथा, व्यवस्था या रीति-नीति को नये प्रकारों में ढालने से ही जहाँ काम चल जायगा—वहाँ प्रगतिवाद विनाश और विध्वंस पर ज़ोर नहीं देता। विप्लववाद में यदि आग है तो प्रगतिवाद में प्रकाश है। हिन्दी साहित्य में विप्लववाद का जो रूप अभी तक देखने में आया है उसकी मूल प्रेरणा आत्मवाद में रही है। परन्तु प्रगतिवाद का स्रोत विश्वदर्शन और विश्ववाद है। हिन्दी साहित्य पर विप्लववाद का भी ऋण है। चेतना के उषाकाल में हमारे साहित्य ने उसी के द्वारा वास्तव को जाना और हमारे समाज को सत्य का सन्धान मिला। प्रगतिवाद इसके आगे की स्टेज है जब व्यक्ति के अहं और चेतन का समाजीकरण और लोक संस्कार हो जाता है।

सभ्यता के इतिहास के विभिन्न युगों में हमें प्रगति के लक्षण मिले हैं और प्रगति के विभिन्न अर्थ रहे हैं। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने—उसके प्रगतिशील लेखकों ने यूरोप में राजतंत्र के विरुद्ध प्रजातंत्र शासन की स्थापना की पुकार लगाई। स्वाधीनता, साम्य और बंधुत्व का नारा पूरा वेग लेकर साहित्य और कला में आया। परन्तु हमारे युग की प्रगति का लक्ष्य दूसरा है। संस्कृति और इतिहास के क्रम में यह एक और अगली स्थिति है। पूँजीवादी साम्राज्य का मूलोच्छेदन और समाजवादी जनविधान की स्थापना यही आज प्रगति का अर्थ है और सही अर्थ है। भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थितियों, संस्कृतियों, संस्कारों और लोकमत के ऊपर आज इसी महान् सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। साहित्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह साम्राज्यवाद (जिसमें फैशिस्ट साम्राज्यवाद भी शामिल है) जैसी लोक

प्रगति विरोधी शक्तियों का सामना संयुक्त और सार्वजनिक सांस्कृतिक बल पर करे; अपने विश्वासों और प्रयोगों का—विचारों और मान्यताओं का —सबल कंठ से प्राणवान स्वरों में जयगान सुनाये। आज मुझे तो ऐसा लगता है कि केवल प्रगतिवाद ही इस सांस्कृतिक क्रान्ति को गति दे सकता है। पूँजीवादी प्रतियोगिता के कारण आज जो संसार की सारी सम्पत्ति एक छोटे से वर्ग के हाथों में चली गई है, पूँजीवादी शोषण के कारण वर्गों और जन साधारण के बीच जितना बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया है, धनी और निर्धन के बीच की खाई जैसी बढ़ती जा रही है वह इतिहास में एक नई घटना है। निर्धनता की व्याधियों से अधिकाधिक पीड़ित इस विराट जन-संख्या में एक प्रकार से हमारा मध्य वर्ग भी मिल गया है। इन स्थितियों की जैसी भयंकर प्रतिक्रियायें होनी हैं उन्हें देखते हुए यह केवल राजनैतिक सवाल ही नहीं वरन सांस्कृतिक सवाल भी है। जैसे जन साधारण आज अपनी संख्या और बहुमत द्वारा राजनैतिक समस्या को सुलझा रहा है वैसे ही वह सांस्कृतिक समस्या को भी सुलझा सकता है। प्रगतिवाद आज जन साधारण को ही संस्कृति की इकाई बनाकर इस समस्या को सुलझाने का यत्न कर रहा है। पूँजीवाद से उत्पन्न परिस्थितियों ने आने वाली संस्कृति के लिये जन-साधारण के आधार की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। इस संस्कृति में मनुष्य का इतिहास आर्थिक नींव पर क़ायम होगा। आर्थिक से यहाँ तात्पर्य है जीवन के संघर्ष और उसके उपायों की शक्ति से पूर्ण। इसलिये प्रगतिवाद न केवल जन समुदाय की वर्तमान वास्तविक दशा का वर्णन करता है, न केवल निम्नवर्गों के संपर्क में आने के फल स्वरूप उत्तम और संस्कृत वर्गों की मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का चित्रण करता है प्रत्युत् इस विशाल जन-समुदाय की मानवता को भावी संस्कृति के गुण में परिवर्तित भी करता है।

प्रगतिवाद कला के रूप (form) को विशेषता से इनकार नहीं करता। कला बिना रूप के टिक ही नहीं सकती। कला की जाँच के लिये यह आवश्यक है कि उसके रूप की पहुँच देखी जाय। लेकिन इस रूप को सामाजिक विशेषताओं से पाकदामन बनाकर रखने की चेष्टा ग़लत है। यह रूप की एक निरर्थक विकृति है। रूप किसी पहले से तय किये हुए विचार की निश्चेष्ट (passive) छाया नहीं है जैसा हमारे कुछ विशुद्ध रसवादी साहित्यकार सोचते हैं। वह तो एक क्रियात्मक (active) तत्व है जो विचार को प्रभावित करता है और विचार से प्रभावित होता है। रूप को उपजाना और अनुभव करना मनोविज्ञान का ही एक उद्योग है। परन्तु दिक़्क़त तो यह है कि हम सामाजिक मनुष्य का मनोवैज्ञानिक एकत्व भूल बैठते हैं जो सृजन भी करता है और सृजित को बरतता भी है। जीवन के विकास की भाँति कला और साहित्य का विकास भी द्वंद्वात्मक होता है।

समाज का हर एक रूप अपनी विशेष जलवायु में, परिस्थिति में बँध फिरकर साहित्य और कला सम्बन्धी अपनी अलग नीति पैदा कर लेता है, जो समय के साथ परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन का होना अनिवार्य है। वरना इतिहास की जो एक निश्चित चेतना (Determined consciousness) होती है वह झूठी पड़ जायगी। उदाहरण के लिये हमारा प्राचीन साहित्य दुनिया के प्रत्येक भाग में धार्मिक है। उसमें मनुष्य को भाग्य और प्राकृतिक शक्तियों का शिकार दिखाया गया है। वहाँ अगणित देवदानव सर्वशक्तिशाली हैं और उन्हीं के हाथ में मनुष्य का भाग्य है। हमारे वे सारे पौराणिक हीरो मनुष्य के सृजनात्मक मस्तिष्क की उपज हैं। उनमें वे सब खूबियाँ हैं जो परमात्मा और देवताओं में ही हो सकती हैं। समाज के विकास के

साथ-साथ जैसे आदमी प्रकृति पर काबू पाता गया वैसे-वैसे कला का रूप भी बदलता गया। देवताओं की जगह आदमी ने ले ली। साहित्य में बड़े-बड़े राजमहलों और किलों के रोमान्स की सृष्टि हुई। राजारानी उनमें हीरो हीरोइन होते थे। जन वर्ग से उन्हें कोई वास्ता न था। साहित्य में जन-वर्ग का काम था उन्हीं हीरो हीरोइनों की सहायता करना। शाहन्शाही, सामन्त शाही और तिजारत के युग में आने पर कला और साहित्य की नीति में ज्ञात या अज्ञात रूप से फिर एक परिवर्तन होता है। महलों, किलों और राजारानियों के स्थान पर बड़े-बड़े समुद्र, जहाज़, गुलाम, छोटे-छोटे टापू और मालदार सौदागर आ जाते हैं। उसके बाद पूँजीशाही के प्रचार के साथ ही साथ बड़े-बड़े कल कारखानों के मालिकों और बड़े-बड़े धंधे वालों के विषय का साहित्य मिलता है।

एक स्वतंत्र (objective) ऐतिहासिक तरीके की दृष्टि से कला हमेशा समाज की सेविका रही है। उसकी एक ऐतिहासिक उपादेयता यह है कि वह एक खास वातावरण और एक खास हालत का चित्र है, चाहे वह विशुद्ध निरुद्देश्य कला हो चाहे कला के लिये कला हो और चाहे विषयात्मक कला हो। लेकिन न तो हर वर्ग अपनी कला पैदा कर सकता है, न वातावरण का प्रत्येक परिवर्तन कला में परिवर्तन ला सकता है। असल में मनुष्य का कलात्मक उद्योग एक पूर्ण और सिलसिलेवार चीज़ है जो द्वंदात्मक है और भीतरी टूट-फूट से स्थापित होती है।

प्रगतिवाद को जो लोग रूस या विदेश से आई हुई विचाराधारा और चिन्तन शैली मानते हैं और उसे अपनी संस्कृति और समाज के लिये घातक समझते हैं वह यह कैसे भूल जाते हैं कि यह साहित्य के, इतिहास के

क्रम में एक stage है। वे कैसे यह आशा करते हैं कि ज्ञान के वैज्ञानिक तरीकों के उन्नयन और विकास के साथ-साथ मनुष्य का दिमाग पुरानी पीढ़ी के विचारों से स्वतंत्र नहीं होगा। कैसे नई पीढ़ी पिछली पीढ़ियों के बेकार और प्रतिगामी तरीकों को छोड़कर उपयोगिता के नये तरीकों और आधारों को ग्रहण न करेगी। कला या उत्पादकता का अर्थ भी तो यही है कि बाहर के उपकरणों से पैदा हुई शक्तियों के पुराने रूप (forms) बदल जायँ। कला की नई-नई आवश्यकतायें भी जीवन की आवश्यकताओं की भाँति, चरमतः आर्थिक मसलों से पैदा होती हैं। इसमें थोड़ी-सी सहायता उन्हें वर्गों की स्थिति के परिवर्तन से भी मिलती है जो उस वर्ग विशेष के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव और शक्ति से होता है।

"कविता में प्रगतिवाद ही क्यों?" को लेकर भी थोड़ा सा लिखना मेरे लिये अनिवार्य हो जाता है। कविता और प्रगतिवाद का एक साधारण विद्यार्थी होने के नाते दोनों में एक सुखद सामंजस्य स्थापित करने की मेरी चेष्टा होनी ही चाहिये। कविता में भूत और भविष्य दोनों की ओर पलायन अच्छा नहीं कहा जायगा। ऐतिहासिक सत्य अर्थात् इतिहास विज्ञान के आधार पर भविष्य की मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करना और वाणी देना एक बात है—वर्तमान कुरूपता और विभीषिका से ग्लानि और कुन्ठावश होकर भविष्य के सपने देखते रहना अतीत की ओर पलायन का ही एक दूसरा रूप है जो 'इन्एक्शन' का प्रचार करता है। 'एक्शन' अर्थात् कर्मशीलता प्रगतिवाद की पहली शर्त है। कविता में वह और भी आवश्यक हो जाती है क्योंकि आज के ५० साल पहले तक मानवीय भावनाओं और मानव हृदय की गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये कविता ही सर्वोत्तम साधन समझी जाती थी। आज भी गद्य के विकास और प्रसार के साथ साथ समाज के ऊपर

कविता का प्रभाव क्षीण नहीं हुआ यद्यपि यह सिमट कर एक अपेक्षाकृत छोटी सीमा में रह गया है। कवि की स्वाभाविक लालसा यह होती है कि उसकी कविता का प्रभाव व्यापक हो। ऐसी स्थिति में उसे भविष्य के मीठे सपने देखना छोड़कर समाज के वर्तमान श्रेणी भेद के मूलोच्छेद के लिये प्रेरणा और ज्वाला पैदा करनी चाहिये। जब तक यह श्रेणीभेद वर्तमान है, तब तक कविता पहले के समान लोकप्रिय नहीं हो सकती। इस श्रेणी भेद से भरे समाज में कविता का विचार कवि के राजनैतिक या सामाजिक मतामत को आधार बनाकर किया जाता है। परन्तु वर्ग-हीन समाज की स्थापना होने पर ऐसा नहीं हो सकेगा। हमारे वर्तमान की कालिमा से सर्वथा अचेतन कवि को प्रगतिवाद में स्थान नहीं मिलेगा।

वर्तमान श्रेणी भेदयुक्त समाज-व्यवस्था कवि को एक श्रेणी विशेष के साथ सम्बन्धित करके देखती है। सर्व-साधारण के साथ उसका सम्पर्क नहीं होने पाता। फल स्वरूप वह अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित और एकान्तिक होता जाता है। उसकी कविता में अस्पष्टता और दुरूहता आती जाती है। वह अपने एकाकी ज्ञानवाद, चिन्तन और रहस्यवाद में लीन होता रहता है। श्रेणी भेद के प्रभाव से उत्पन्न और विकसित जनता का ऐसा उदासीन भाव जब कवि देखेंगे तो वे भी प्रतिक्रिया से रुद्ध हो जनसाधारण की रुचि का ख्याल करके कविता नहीं लिखेंगे। परन्तु इस दशा का अन्त होना है, जो समाज चेतना और ऐतिहासिक बोध से होगा। तब कवि की अनुभूति में वह उग्र सामाजिक दार्शनिकता आवेगी जो स्टीफेन स्पेण्डर की नीचे उद्धृत कविता में है :—

I say, stamping the words with emphasis,
Drink from here energy and only energy,

As from the electric charge of a battery
To will this time's change:
Leave your gardens, your singing feasts
Your dreams of suns circling before our sun.
Of heaven after our world.
Instead, watch images of flashing brass
That strike the outward sense—the polished will.
Flag of your purpose which the wind engraves
No Spirit seek here rest. But this : no man
Shall hunger. Man shall spend equally.
Our goal which we compel - man shall be man

सामाजिक दर्शन शास्त्र के व्यापक सत्य से जब कविता अनुप्राणित होती है तब उसका स्वरूप कैसा तेजस्वी हो जाता है यह डे लुइस का निम्नलिखित कविता में देखा जा सकता है :—

Yet living here,
As one between two massive powers I live
Whom neutrality cannot save

Nor occupation cheer.
None such shall be left alive :
The innocent wing is soon shot down.
And private stars fade in the blood-red dawn
Where two worlds strive.
The red advance of life
Contracts pride,calls out the common blood
Beats song into a single blade
Makes a depth charge of grief
Move then with new desires
For where we used to build and love
Is no man's land and only ghosts Can live between two fires.

प्रगतिवाद—एक अनुशीलन

१

प्रगतिवाद को लेकर हिन्दी में जितनी चर्चा चली है—उसका जैसा-जैसा समर्थन और विरोध किया गया है, जिन-जिन सकर्मक और अकर्मक दृष्टिकोणों से उस पर प्रकाश डाला गया है—छीटेंशाजी हुई है—पक्ष विपक्ष में दलीलें दी गई हैं—वैसा अन्य किसी साहित्य आन्दोलन, कलाप्रणाली या जीवन दर्शन को लेकर किया गया हो—ऐसा स्मरण नहीं आता। छायावाद जिन दिनों हिन्दी की इतिवृत्तात्मक कविता के कोहरे को चीरकर अपनी बालारुण की सी तीव्र किरणें फैला रहा था उन दिनों छायावाद का भी गहरा विरोध हुआ था। निराला, नन्ददुलारे बाजपेयी, रामनाथ 'सुमन', गुलाबराय, रामकुमार वर्मा, ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' और जनार्दन झा 'द्विज' जैसे सुलेखकों ने एक ओर नई कविता का जिस दृढ़ता से स्वागत और समर्थन किया था वैसी ही कटुता, तीव्रता और सचाई के साथ आचार्य द्विवेदी, पद्म-सिंह शर्मा और रामचन्द्र शुक्ल जैसे साहित्य धुरीणों ने विरोध भी किया था। छायावाद का जो ऐसा बहुमुखी विरोध नहीं हुआ उसके स्पष्ट कारण थे। छायावाद मूलतः एक प्रतिक्रिया थी। उसके पीछे कोई राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक चेतना नहीं थी। छायावाद एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान को लेकर नहीं चला था। साहित्य में छायावाद का विरोध केवल काव्यगत रूढ़ियों और व्यंजना प्रणाली को लेकर हुआ था। परन्तु प्रगतिवाद का विरोध उन क्षेत्रों और vested interests स्थिर स्वार्थों की ओर से हो रहा है जो साहित्य के द्वारा अत्याचार पीड़ित और शोषित मानवों के हृदय में एक उदार बन्धुत्व—एक प्रभाव-पूर्ण भाईचारे की भावना का उदय देखकर

चिन्तित हो उठे हैं। जुल्मों के शिकार जन-वर्ग के भीतर-भीतर ऐसी दृढ़ एकता साहित्य खड़ी कर सकता है—प्रगतिवाद की यही प्रधान रचनात्मक प्रवृत्ति है—यह देखकर उन्हें हैरत होती है। प्रगतिवाद में जिस विस्तृत दृष्टिकोण को लेकर सामाजिक और आर्थिक शक्तियों को पकड़ा जाता है वही हमारे अनुभवों के यथार्थ स्वभाव और अर्थ का निर्णायक है। साहित्य की यही स्पष्ट और शक्तिपूर्ण धारा प्रगतिवाद कहलाती है जो अभिव्यक्ति के स्वरों में नया जीवन-सन्देश लिये बोल रही है। छायावाद हमारे विकासशील समाज के गठनात्मक सत्य को स्पर्श करने में असफल रहा। सामाजिक सत्य में उसकी जड़ें नहीं जमीं और अब तो युग की माँग है कि वह साहित्य या कला जो जीवन दशाओं के नये सेट के निर्माण में योग नहीं देती एक विलास है—प्रसाधन है—आराइश है। किसी सन्त ने कहा है—"I prefer sacrifice to ecstacy" और आज का प्रगतिवादी भी कला के नाम पर चलने वाले स्वर्गीय पलायन, स्वार्थपरता और एकान्त शीलता को त्याग कर चलना चाहता है।

प्रगतिवादी कविता के आलोचकों का कहना है कि हम यहाँ साहित्य को अनिश्चित भूमि पर पाते हैं। परन्तु हमारे ये आलोचक इतना तो जान ही गये हैं कि प्रगतिवादी कवियों की सहानुभूति किधर है। केवल यही सत्य प्रगतिवादी कवि को अन्य युगों के कवियों से अलग नहीं करता। प्रत्येक युग में सच्चा कवि मानवीय वेदनाओं और दुःखों का सहभोक्ता रहा है। प्रगतिवादी कवि और अन्य कवि में अन्तर भी स्पष्ट है। प्राचीन कवि जहाँ-तहाँ अपने को विश्व का केन्द्र मानकर एक आत्मगत तुष्टि और आत्म-संलग्नता लेकर चलता रहा है वहाँ प्रगतिशील प्रवृत्तियों का आधुनिक कवि जीवन का सर्वरूप

दर्शन करता है। प्रत्येक अनुभव को उसके उचित सामाजिक कोण में समझने की चेष्टा करता है। उसके द्वारा की गई जीवन आलोचना अधिक वैज्ञानिक होने के नाते अधिक रचनात्मक होती है। यह मैं जानता और मानता हूँ कि कविता का माध्यम ही इस सर्वरूपता को सीमित कर देता है। उसका चिन्तनशील और संगीतात्मक स्वभाव एक ऐसी मादकता का सृजन करता है जिसमें जीवन की घटनायें और समस्यायें अपनी स्पष्टता खो देती हैं। ठंडा विवेक टँगा रह जाता है। प्रगतिशील कवि यद्यपि कवि की इस स्वभाव एवं संस्कारगत मनः स्थिति को आमूल बदल तो नहीं सका परन्तु उसे अपना विशेष लक्ष्य और कार्य की रेखा याद है। चेतना के इन्हीं लहरीले क्षणों में यह अपनी मनःस्थिति से टूट कर अलग हो जाना चाहता है और वैज्ञानिक यथार्थवादी बनने की उसकी चेष्टा हमारी प्रगतिशील कविता में स्पष्ट दिखती है। वर्जीनिया वुल्फ के शब्दों में नवीन कवि के एक हाथ में यथार्थता है—दूसरे में है सौन्दर्य्य। इन प्रगतिवादी कवियों की कविता में कहीं-कहीं हमें यदि पूर्णता की कमी दीखे तो घबराना या ऊबना नहीं चाहिये। उनकी बुद्धिशीलता अभी सौन्दर्य्य की झाँकी और कुरूपता की गन्दगी के बीच में भटक रही है। यही कारण है कि मीठी और तरल अन्तर्ध्वनियों में वर्णित सौन्दर्य्य की भूख में गद्यात्मक अभिव्यक्ति की नग्नछाया देखकर हम चौंक पड़ते हैं। मशीन की खटखट पक्षी की गीति विह्वलता, बालकों की हँसी और प्रेम के मीठे आन्तरिक आवेगों के साथ-साथ हमें उनकी कविता में मिलती है। आशा और निराशा, साहस और स्वप्न भंग ये सब एक थकावट और frustation के साथ-साथ मिले रहते हैं और कवि की पराजय से अलग निकल कर स्वस्थ सहज और साम्य की रागिनी गाने की चेष्टा साफ दिखाई पड़ती है। मानव इतिहास के वर्तमान परिच्छेद में कवि के

संघर्ष के रूप को देखते हुए उसपर दोष लगाना ग़लत है। काव्य परम्परा और काव्य रीतियों पर ध्यान देते हुए भी हम उसे दोष नहीं दे सकते। आज के जीवन में भरी हुई असंगतियों के बीच में गीत की लयभरी "हारमनी" लाना सर्व सुलभ नहीं। किसी ने कहा है—You cannot be a skylark when the skies are falling : एक झूठे सरलीकरण की चेष्टा करते-करते जो कवि यह गीति तादात्म्य पैदा करते हैं वे कविता के नाम पर धोखा देते हैं। दूसरी ओर यह वैज्ञानिक और सर्वरूप (objective) दर्शनवाला यथार्थवाद काव्य के मौलिक उपादानों के साथ पूरा मेल नहीं खाता—यद्यपि आज के आशाहीन सांस्कृतिक दिवालियेपन और सौख्य के खोखलेपन से बाहर निकलने का यही मार्ग है। आज कवि जो सजग और चिन्ताशील है एक विचित्र द्वन्द्व में पड़ा है। वुल्फ ने वर्तमान कविता की छानबीन करते हुए अपने एक लेख 'The Leaning Tower' में लिखा था—आज के कवि का मस्तिष्क Crippled evasive और divided है क्योंकि वह दो दुनिया में रहता है—एक जो नष्ट हो रही है और दूसरी जो पैदा होने के लिये संघर्ष कर रही है। अपना मीनार छोड़े बिना यह कवि जनता तक आना चाहता है और नतीजा होता है एक विशृंखला और समझौता। प्रगतिवादी जनता के संघर्ष से अपने को दूर नहीं रख सकता और साथ ही इस महा जागरण में अपने को इतना खपा भी नहीं पाता कि एक ऐसी पूर्णता और मस्तिष्क की सुशृंखला विकसित कर ले जो कला के नैसर्गिक और धारावाह सृजन के लिये आवश्यक है। जिस कला की नींव सामाजिक सत्य की भूमि में नहीं है उसका क्या मूल्य है ? हमारे विकासशील और प्रगतिशील समाज के निर्माणात्मक सत्य को जो कलाकृति प्रकट नहीं करती वह जीवन की विकृतियों का रस कितनी भी गहराई में जाकर

सचि पर शिव तो नहीं है। ऐसे कलाकारों को 'आडन' की यह विख्यात पंक्ति नहीं भूलना चाहिये—The sunset is infinitely lovely, only it stands on the verge of dark. जीवन को सृजनहीन यातना की लम्बी वेदना को लेकर चलने वाले साहित्यकार जो इलियट की भाँति—a whole life time burning in every moment पर आस्था रखकर उसी व्यक्तिवाद को जीवन की घनीभूत चेतना मान बैठते हैं और उसी के सतत गहरे होते हुए और क्षण प्रतिक्षण बदलते हुए स्वरूप के गीत गाते रहते हैं अपने आत्मगत अनुभवों में ही लीन रह जाते हैं और उनके ये अनुभव सामाजिक परिवर्तन की प्राणवाहिनी क्रिया से दूर जा पड़ते हैं।

प्रगतिवाद की माँग है कि रचना हमारे कार्यों और विचारों की प्रतिमूर्ति हो। प्रगतिवादी लेखक उनके लिये लिखता है जो कर्मशील हैं—कार्य में अग्रसर हैं। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों द्वारा अपने जीवन की गति अग्रसर करता है वैसे ही प्रत्येक सामाजिक क्रिया से समाज आगे बढ़ता है। इस अग्रगामी गति का सबल सक्षम स्वर हमें नये साहित्य में मिलता है। जिस जीवन में कार्य का आह्वान नहीं है—गतिशीलता की चुनौती नहीं है उसके निकट प्रगतिवाद या अग्रगामी आन्दोलन क्या अर्थ रक्खेगा। रोमारोलाँ के शब्दों में हम उन सभी श्रेणियों वर्गों और जातियों के साथ-साथ चल रहे हैं जो सीमान्त मानवजाति के प्रगति प्रवाह के लिये—जीवन-मुक्ति के लिये मार्ग की सृष्टि कर रही हैं।

दुनिया विराट अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में फँसी है। आज वही लोग उसकी परिचालना कर रहे हैं जो एक सीमान्तहीन श्रेणीविहीन मानव-जाति की सृष्टि करना चाहते हैं। साहित्य की उत्पत्ति हमारे देश में गावों में हुई और वहाँ से वह शहरों में आया। इसलिये हमारे आलोचकों और विरो-

थियों का जो वर्ग इस बात पर आपत्ति करता है कि शहरों में तो आधुनिकता और प्रगतिशीलता के नाम पर बिजली का प्रकाश फैले और गाँवों में घोर अन्धकार छाया रहे वह हमारा शुभचिंतक है। देश की आत्मा हमारे गाँवों में है। हमारे सब से महान साहित्यकार प्रेमचन्द ने आजीवन हमें यही बताया। एक दूसरे सच्चे प्रगतिशील कवि और लेखक बलभद्र दीक्षित ने हमारे सामने सक्रिय उदाहरण रक्खा। विदेशी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य से हम पूर्ण रूप से प्रभावित रहें—कोई हर्ज नहीं है परन्तु उसमें प्राण हमारे रहेंगे। हमारा निजस्व उसमें बोलेगा। आज के साहित्य में प्रतिबिम्बित सत्य को जो पूर्ण सत्य नहीं मानते—उसमें केवल उपसर्गों की ही सचाई देखते हैं—मौलिक सत्योपलब्धि नहीं पाते उनसे हमें केवल एक निवेदन करना है—क्या मुक्ति के लिये मानव-आत्मा का उत्पीड़न उन्हें प्रगतिशील साहित्य में नहीं सुन पड़ता! क्या प्रगतिवादी लेखकों की कृतियाँ पढ़ कर उन्हें यह नहीं अनुभव होता, कि वे अब तक कितने बड़े भ्रम में पड़े रहे हैं। वे स्वयं को डाक्टर समझे थे परन्तु वास्तव में एक रोग थे। जीवन की फटी गुदड़ी में वे सैकड़ों पैबन्द लगाते जायँ—हमें आपत्ति नहीं। परन्तु फिर भी उसके आस पास जो उतने ही फटे स्थान दिखाई पड़ते हैं उनकी ओर से वे हमारी आँखें क्यों मूँद देना चाहते हैं। क्षोभ लगता है हमारे देश और समाज का इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या होगा कि हमारे लेखक और कवि विश्व के और स्वयं अपने देश जाति और वर्ग की जीवनशक्ति के इतने बड़े प्रकाश को नहीं देख पाते। सत्य की चेतना की ऐसी प्रचण्ड विप्लावित लहर उन्हें छूती हुई निकल जाती है। उनके स्वकाम अहंकारपूर्ण क्रूर घृणा से जर्जर मन की कठोरता को एक झटका भी नहीं लगता। सामाजिक नैतिक नियम कानूनों का आवरण जीवन की नींव का स्थान नहीं ले सकता। जो नींवें नष्ट हो गई हैं उनके ध्वंस की

बात सुनते ही क्यों हमारी तबियत भारी हो जाती है। कब्र के अन्दर बोलती लाशों की तरह हम अपने दिन काट रहे हैं परन्तु घर से निकल कर मुक्त आकाश के नीचे आने का आह्वान सुनते ही हम एक विचित्र पागलपन से भरी लाचारी से ग्रस्त हो जाते हैं और उसीके नीचे माँद खोद कर घुस जाना चाहते हैं। इसलिये जहाँ तक सामाजिक स्वास्थ्य और विकास का सम्बन्ध है प्रगतिवाद स्वस्थ्य सबल और सामाजिक मन का खुली हवा और ऊष्ण मधुर आलोक के प्रति खिचाव है। दूसरे शब्दों में वह साहित्यकार का दायित्व बोध है—कलाकार की जिम्मेदारी है।

साहित्य स्वाधीनता का उपासक होता है और स्वाधीनता का अंतिम विश्लेषण साम्यवाद पर आकर ही समाप्त होता है। स्वाधीनता बन्धनों की अनुपस्थिति का नाम नहीं— सुविधाओं और बराबर सुविधाओं के होने का नाम है। मानव-समाज की इसी सर्वोत्तम व्यवस्था ने रूस में विशाल रूप में प्रकाश पाया है। यदि मानव-जीवन का ध्येय बर्बरता और मनुष्यत्व की रस्साकशी को समाप्त कर विशालतम कल्याण की ओर जाता है तो उसे आत्म-स्वार्थयुक्त पद्धति त्याग कर मानव कल्याण की उस अभिनव व्यवस्था को स्थापित करना होगा जो पूर्ण रूप से न सही अपूर्ण रूप से ही शान्ति सुख और सन्तोष का एक अभिनव चेतनाधार प्रदान करती है। रूसो का यह कथन है कि मनुष्य प्रत्येक स्थान पर स्वतन्त्र पैदा होता है मुझे अब कुछ भ्रामक सा लगता है। स्वतंत्रता मानव प्रवृत्तियों का फल नहीं वरन सामाजिक सम्बन्धों का फल है। मानव की स्वतन्त्रता का रहस्य तो मानव के आपसी सामाजिक सम्बन्धों में निहित है।

प्रगतिवाद का राजनीतिक पहलू है फैशिज्म का विरोध। यहाँ प्रगतिवाद के साथ भारत की जन शक्ति, उसके नेता, उसकी प्रधान राज-

नैतिक और सामाजिक संस्थायें सभी हैं। हमारे देश और समाज ने फैशिज्म की उत्पत्ति के समय से ही उसे एक हीन और असभ्य आदर्श घोषित किया है। फैशिज्म जैसी निष्ठुर स्वार्थान्ध मानव-सम्प्रदाय की स्वार्थ प्रभुता नीति को प्रगतिवाद पग पग पर साहित्य में कुचलता है। फैशिज्म मनुष्य की स्वतंत्र विचारधारा, सरस उज्ज्वल जीवन दायिनी सार्थकता और तृप्ति की आकाँक्षा, काव्य, साहित्य, दर्शन, कला, सत्य सुन्दर और मंगल-साधना का रास्ता बन्द कर देता है। विश्व मानव और युद्ध से घायल मानवता के विरुद्ध खड़ी इस आसुरिक शक्ति का नाश कैसे हो – जन शक्ति को कैसे शान्त और संगठित करके इसे गिराया जाय यह प्रगतिवादी बताता है। यह तमाम दुनिया की जनता की मुक्ति का प्रश्न है और हम दुनिया से अलग नहीं हैं। संक्षेप में प्रगतिवाद समानता-स्वाधीनता, विश्व भ्रातृत्व, उन्नत जीवन तथा विशालतम लोक कल्याण की कल्पना पर आधारित है। प्रगतिवाद का सामाजिक पहलू है मनुष्य की अन्तरात्मा का चीत्कार। समाज की नींव डालने में जो भूलें रह गई हैं वे नियति की अनिवार्यता नहीं वरन दुनिया की पूँजीवादी सभ्यता के शोषण की लूँटियाँ हैं जिनके सहारे समाज टूट फूट कर जीर्ण और दरारों से भरे हुए एक विशाल घर की तरह इलियट का decayed house बन कर खड़ा है। सभ्यता का परिष्करण पिछले रास्ते से होकर आदिम अवस्था की ओर जाने से न होगा। टालस्टाय और लारेन्स के प्रयोग इस दिशा में हमारा अधिक उपकार न कर सकेंगे। इनसे तो समाज अपने ह्रास के प्रति और अचेतन हो जायगा—एक नीचे स्तर पर उतर कर। जिस प्रकार एक न्यूराटिक की बचपन की ओर लौटने की आकाँक्षा कर भीषण जीवन समस्याओं का समाधान करने की प्रवृत्ति स्वयं बचपन से ज्यादा अस्वस्थ और अनगढ़ है वैसे ही सभ्यता को आदिम अवस्था की ओर

लौटा ले जाने का यत्न आदिम जीवन-अवस्था से बढ़कर अस्वस्थ्य और रुग्ण है। प्रगतिवादी का हल दूसरा है। वह तो सब की मुक्ति में अपनी मुक्ति देखता है। वह पुरानी ह्रासोन्मुखता का नहीं वरन नई शक्ति और स्फूर्ति का सन्देश देता है। वह जानता है भविष्य की शक्तियाँ सर्वहारा वर्ग की मुट्ठी में हैं। घायल मानवता का नवनिर्माणात्मक रहस्य और उसके घावों का उपचार—उसकी समस्याओं का हल भविष्य में मिलेगा—भूत में नहीं। बुर्जुवा सिद्धान्तों में विचार प्रयोजनहीन होता है। इसलिये बुर्जुआ की क्रियाशीलता जब आवश्यकता का सामना करती हैं तो विवश हो जाती हैं। एक भयंकर लाचारी उसे डस लेती है। प्रगतिवादी सिद्धान्तों में विचार के पीछे प्रयोजन की—आवश्यकता की एक तीखी चेतना रहती है। इसीलिये वह मुक्त होता है।

प्रगतिवाद को सपनों से आपत्ति नहीं है। परन्तु वे स्वप्न एक नूतन, सुन्दर, परिपूर्ण और आदर्श जीवन के निर्माण के प्रतीक होने चाहिये। वे लोग प्रगतिवाद को बदनाम करते फिरते हैं जो यह आरोप लगाते हैं कि प्रगतिवाद में घूम घुमाकर कुरूपता का ही चित्रण होता है। कुरूपता में एक सहानुभूतिजन्य आकर्षण हो सकता है परन्तु वह एक सुखद रसात्मक अन्तर्ध्वनि नहीं पैदा कर सकती। आवश्यकता है मानव के हृदय में प्रविष्ट पलायन की भावना को यथार्थबोध में नये सिरे से ढालकर उसे परिवर्तित और विकसित करने की। प्रत्येक प्रगतिवादी का ध्यान और सहानुभूति क्रान्तिकारी परिवर्तनों की ओर जाती है इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बेकारों या शोषित वर्गों पर रहम खा रहा है। इसके विपरीत वह अन्त में समझ गया है कि उनका स्वार्थ ही उसका स्वार्थ है। इसी प्रकार लेखक और कवि बराबर राजनैतिक रुझान से प्रभावित होते जायँगे। जैसे-जैसे वे

देखेंगे कि श्रमिक वर्ग के और उनके स्वार्थ एक दूसरे से गुँथे हैं वैसे-वैसे उनकी कृतियाँ आज के साहित्य में चलती दुरूहता, सन्देह और 'सिनिसिज्म' से मुक्त होती जायँगी। इसलिये वह पूँजीवादी समाज की असंगतियों से विद्ध और जागरूक है। आधुनिक सभ्यता के विश्रृँखलन और ह्रास का उन्हें कटु बोध है। यही कारण है कि उसकी भावनाओं में इन्कलाब की हुँकार है। यहाँ मैं दो तीन अँगरेज़ी के पद्यखन्ड देने का लोभ नहीं संवरण कर सकता। 'आडन' एक छिपकर काम करने वाली क्रान्तिकारी पार्टी के कार्यकर्ता का चित्र खींचता है जो व्यक्ति न रहकर एक महान पूर्ण का सजीव अंश बन गया है :—

"That human ligaments could so
His southern gestures modify
And make it his mature ambition
To think no thought but ours
To hunger, work illegally
And be anonymous."

इलियट के 'हालोमैन' की तुलना में उपरोक्त पंक्तियाँ कितनी प्रकाशवती हैं। जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण कितना निश्चित और सकर्मक हो गया है। ज्यों-ज्यों यह चिन्ताधारा आगे बढ़ती है अन्तस्थ और विन्यास दोनों में मौलिक अन्तर होता जाता है। स्पेन्डर एक साम्यवादी की अन्तिम क्रिया का कैसा सच्चा और चोट करने वाला चित्रण करता है :—

They walk home remembering the straing red flags

And with pennons of song still fluttering in their blood.
They speak of the world state
With its towns like brain centres and its pulsing arteries

सर्वहारा वर्ग का प्रचंड आशावाद देखिये :—

Surely from hunger
We may strike fire like fire from flint.

कला सदैव अपने प्रयोजन से जीवित रहती है—यह प्रयोजन है मानव को मानवीय दशाओं और बन्धनों से मुक्त होने का सामर्थ्य दान - उनकी अवहेलना करके नहीं—उनसे मुँह छिपा कर नहीं वरन एक आधिपत्य की क्रिया द्वारा। प्रत्येक कला मानवीय भाग्य पर कब्ज़ा करने का एक सबल उपाय है। प्रगतिवाद का यही ध्येय है जिससे प्रेरित होकर विश्व के कवि, कथाकार और नाटककार आज नये-नये प्रयोग कर रहे हैं। वे जान गये हैं कि जो भाग्य fate डिकन्स, डास्टावेस्की और हार्डी ने चित्रित किया है—ग्रीक दुःखवादियों का वह 'फ़ेट' देवताओं का पूर्व निर्मित और पूर्व निर्धारित विधान नहीं है वरन सामाजिक व्यवस्था का एक दृढ़ और निश्चित फल है। इस बोध ने उन्हें कर्म की प्रेरणा दी है—उनमें परिवर्तन की प्रवृत्ति पैदा की है और जीवन का महा प्रवाह जनता की ओर मोड़ने का संकल्प भी दिया है। यही आदर्शवादिता की सैद्धान्तिक गठन है जो आज प्रत्येक प्रगतिवादी के सामने है और प्रत्येक क्रान्ति के पहले जिसका अस्तित्व अनिवार्य होता है। कर्म के लिये विचार अनिवार्य है। प्रगतिवादी लेखक वर्तमान परिवर्तित सामाजिक सम्बन्धों के प्रकाश में मानव व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक तल पर

स्थापित करना चाहता है। वह जीवन को समझने की शक्ति और उसे बदलने की दृढ़ इच्छा पैदा करता है।

प्रगतिवादी के सामने आज सब से बड़ा प्रश्न है वर्तमान चेतनाहीन सामाजिक सम्बन्धों और अत्याचारों को समाप्त करना। ये सामाजिक सम्बन्ध पूँजीवाद के हैं—बाज़ार के हैं। इसके बाद ? यदि उसे सच्चे अर्थों में स्वतंत्र होना है तो उसे नयों का निर्माण भी करना होगा— नये चेतना सम्पन्न, आन्तरिक और बहुमुखी सामाजिक सम्बन्ध बनाने होंगे। उसे उन सामाजिक सम्बन्धों और मूल्यों का निर्माण करना होगा जिन्हें राजनीति की भाषा में समाजवाद कहते हैं। पुराने घिसे हुए इन्जिनों से ब्रेक बनते हैं और घिसे हुए सत्य जो अपनी आवश्यकता से अधिक जी रहे हैं मुग़ालतों में परिणत हो गये हैं। मध्य-वर्ग की आज कुछ विचित्र स्थिति है। संसार उनके लिये एक मधुर स्वप्न है। परन्तु पूँजी-वादियों की भाँति न तो उस पर इस समय उनका अधिकार है और न सर्वहारा-वर्ग की भाँति एक दिन वे उसे अधिकृत करने की बात सोच सकते हैं। वर्तमान दुर्नीतिमूलक सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन करने में जो सहायता नहीं देते वे इस व्यवस्था को क़ायम रखने में सहायता देते हैं। प्रगतिवाद की पहली माँग यह है कि मानव में न केवल अपनी चाहना की चेतना हो वरन जो तत्व उस चाहना का निर्णय और निश्चय करते हैं उनका भी पूरा-पूरा ज्ञान हो। कला तो एक सामाजिक क्रिया है। यह मार्क्सवादी व्याख्या नहीं वरन उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाओं से निकली हुई ध्वनि है। वही क्रिया कला की मान्यता पा सकती है जिसके पीछे एक चेतन सामाजिक प्रयोजन हो। एक स्वप्नशील हृदय की 'फेनटेसीज़' कला नहीं है—वे तभी कला की संज्ञा पाती हैं जब वे सामाजिक रूप में मान्य प्रतीकों में प्रकट की जाती

है। इस प्रकटीकरण की क्रिया में भी कला का सामाजिक प्रयोजन सबसे पहले पूँछा जाता है।

२

रेल्फ फाक्स के अनुसार उपन्यास दुनिया की कल्पनात्मक संस्कृति को बुर्जुआ या पूँजीवादी की सबसे महत्वपूर्ण देन है। वैसे तो नाटक, संगीत, चित्रकारी और शिल्प सभी को वर्तमान समाज ने गठित एवं विकसित किया है। या तो परिष्कार के लिये या फिर पतन के लिये। फाक्स के अनुसार यह सब कलायें विकास के एक लम्बे युग को लेकर गुजर चुकी हैं—लगभग उसी तरह जिस तरह सभ्यता और उसकी प्रमुख समस्यायें हल होती रही हैं। बुर्जुआ साहित्य का निर्माण ही रोमान्टिसिज्म के सबसे अधिक विनाशात्मक स्वरूप के तत्वों से होता है। बाद में ऐसे साहित्यकार वर्तमान के भय और प्रायश्चित्त से प्रेरित होकर एक आदर्शवादी अतीत में शरण खोजने लगते हैं। एच० जी वेल्स ने अपने आत्म चरित्र में एक बड़ी गम्भीर बात कही है जो प्रत्येक उपन्यासकार पर लागू होती है गहरा चरित्र अध्ययन एक दार्शनिक पेशा है।" कोई भी उपन्यासकार अपने पात्रों के विश्लेषण करने की इस विशेषता को प्राप्त किये बिना जो जीवन के प्रति दार्शनिक जिज्ञासा और मनोभूमि का परिणाम है उपन्यास की सृष्टि नहीं कर सकता। प्रेमचन्द से लेकर सर्वदानन्द वर्मा तक हिन्दी के सभी श्रेष्ठ उपन्यासकार इस नियम के अपवाद नहीं है। अपनी उद्दाम सृजनात्मक शक्ति से हमारे उपन्यासकारों ने जैसे-जैसे कल्पना को यथार्थ में परिणत किया वह देखने की वस्तु है। उनकी कल्पना इन्सान के भय से मुक्त, बिना समझौते की बात किये साहस के साथ जीवन के

सत्यों को व्यक्त करती है। नरोत्तम प्रसाद नागर के प्रसिद्ध उपन्यास 'दिन के तारे' को लीजिये। उसमें व्यंग और चोट करने वाला गंभीरतम हास्य तो है ही पर उसे पढ़कर पाठक क्या यह स्वीकार करने के लिये विवश नहीं होता कि व्यक्ति के बाह्य जीवन से बड़ा उसका आन्तरिक जीवन है। जिस मानवीय यथार्थवाद और चेतना-धारावाद (stream of consciousness) की भूमि पर नरोत्तम का यह क्रान्तिकारी उपन्यास खड़ा है—जिस वेगपूर्ण भावना बोध को लेकर उसमें चरित्रों का निर्माण हुआ है वह अपूर्व है। हिन्दी उपन्यासों में प्रेमचन्द के बाद आने वाले एक पराजय और पलायन के युग के बाद "निमंत्रण" और "दिन के तारे" का लेखन एक घटना है। जीवन के कोलाहल-पूर्ण मार्ग में अपने ही अहम् की विकृतियों को लेकर सन्तुष्ट रहने वाले उपन्यासकार आप से आप खत्म हो जायँगे। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमंत्रण' ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपने पात्रों को यथार्थ दुनिया में स्थापित करने की क्षमता उनमें है। जिस आत्मविज्ञापन, अश्लीलता और पाखन्डवादी सामाजिकता का दम्भ यथार्थवाद के नाम पर भरा जाता है और "स्वयं अपने की अपेक्षा कौन सी महानतर यथार्थता हो सकती है" कह कर जो अन्ध व्यक्तिवादी लेखक अपने को नयी भावना-धारा का सृजेता समझा करते हैं और बलात्कार की कहानियाँ लिख-लिख कर जनता की सस्ती रुचि को 'कैटर' करते हैं उनकी आँखें "निमंत्रण" और "दिन के तारे" पढ़कर खुल जानी चाहिये। फ्रेन्च वस्तुवाद, शराब, हत्या (अपनी या दूसरों की) जुयेबाज़ी, बलात्कार, होमोसेक्सुअलटी आदि जीवन की विकृतियों को जीवन का चरम शिवतत्व मानने वाले और बात-बात पर शेक्सपीयर और ग्रीक दुःखवादियों की दुहाई देने वाले अधिक समय तक प्रगतिवाद को संस्कृति और पौराणिकता के नाम पर कोस न सकेंगे। उनके

साहित्य की अपचितायें स्वयं उन्हें ले डूबेंगी। पतन की अराजकता से भरे हुए जिस समाज की कल्पना वह अपने साहित्य में लेकर चलते हैं वह हमारे यहाँ कभी नहीं था। इस वर्ग के लेखकों को हम यहीं छोड़ दें। जीवन पर टीकाओं को—अभिप्राय को प्रेरित करने की प्रचन्ड शक्ति जैनेन्द्र में है। उनकी माँसल दार्शनिकता 'लाक' और 'बर्कले' का स्मरण दिलाती है। भगवती प्रसाद के 'निमंत्रण' में नूतन विचारों का प्रचन्ड प्रवाह है—संक्रान्ति काल के प्रबलतम पुनर्जन्म की रूप-रेखा है—मानव इतिहास की विकासशील जीवन शक्ति के लिये प्रबल चुनौती है। नरोत्तम ने 'दिन के तारे' में एक युग के पाखन्ड और पापों के ऊपर जिस तीव्रता और सबलता के साथ व्यंग और उपहास बरसाये हैं वह दर्शनीय है। सर्वदानन्द वर्मा का 'निकट की दूरी' और राधा-कृष्ण का "फुटपाथ" अपने ढंग के दो श्रेष्ठ उपन्यास हैं। रेल्फ फाक्स के अनुसार लेखक की सबसे प्रबल महत्ता भाषा को क्रान्तिकारी बना देने में है और सर्वदानन्द इस दृष्टि से हिन्दी के महत्वपूर्ण लेखकों में हैं। यों वह मानव जीवन के उन करुण, विस्मित और उल्लासपूर्ण साधनों की स्वतंत्रता पर ज़ोर देते हैं जो मानव व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास के लिये परमावश्यक हैं। 'फुटपाथ' का लेखक हिन्दी के उन लेखकों में है जो अपनी मानवीय सम्वेदना और वर्ग-वैषम्य की चेतना में अपनी पीढ़ी के किसी भी लेखक से पीछे नहीं है। राधाकृष्ण की शैली में वह मानवीय क्रोध है जो सच्चे कलाकार में मानव जीवन के अधःपतन के कारण जागृत होता है। केवल व्यक्ति की भावनाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्ध रखने वाली उपन्यास कला का ह्रास होगा—यह हमें अभ्युदय में धारावाहिक रूप से छपे श्री केदारनाथ अग्रवाल के उपन्यास "दहकते अंगारे" से ज्ञात होता है। भावना का विराग और विवेचना, व्यक्ति जीवन और समाज जीवन के अन्तर्मुखी

पक्ष को देखने की सफलता आज कल्पना और मनगढ़न्त के उपन्यासों को समाप्त कर रही है—यह महाकवि निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा', को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण गठित पूँजीवादी समाज की वह सृष्टि जिसने व्यक्ति और समाज के पार्थक्य को पूर्ण कर दिया था आज नष्ट हो रही है। व्यंग और वार, ताज़गी और कटुता में "बकरिहा" गोर्की की श्रेष्ठ रचनाओं के साथ रक्खा जा सकता है।

कहानी के क्षेत्र में प्रगतिवादी प्रयोग आज सबसे अधिक हो रहे हैं। तरुण प्रगतिशील कहानी लेखकों की कहानियों में नव जीवन को एक प्रबल आशा जागती रहती है। मलीनता, निर्जीवता, आक्रान्ति, शिथिलता, खीझ, निराशा और रुदन का—शान्तिवादियों की अकर्मण्यता का जैसे जीवन में कहीं स्थान ही नहीं है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, अख्तर हुसेन रायपुरी, राधाकृष्ण, प्रभाकर माचवे, विष्णु, कमल जोशी, अश्क, अमृतराय, रामचन्द्र तिवारी, चन्द्रकिरण सौनरिक्शा, बृजमोहन गुप्त, यशपाल, मोहनसिंह सेंगर, अनन्तप्रसाद विद्यार्थी, ओंकार शंकर विद्यार्थी, बलराज साहनी, कान्तिचन्द्र सौनरिक्शा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, श्रीमती चन्द्रावती जैन, श्रीचन्द्र अग्निहोत्री, गंगा प्रसाद मिश्र, चन्द्रप्रभा द्विवेदी, भैरवप्रसाद गुप्त, सुरेन्द्रबालूपुरी शरद, किशोर साहू, आदि हमारे नई पौध के आदरणीय लेखक हैं। शिवदानसिंह चौहान के कुछ स्केच और कहानियाँ हमारे साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखतीं। इन तरुण कलाकारों ने कहीं भी विषाद और वेदना के मातमी गीत नहीं गाये। शापित, शोषित और अवहेलित जनजीवन की सारी भयानकता, वीरानगी और कड़ुआपन हमारे उन सबल लेखकों की कृतियों में एक ऊर्ध्वमुखी जीवन-चेतना लेकर उतरता आता है। उनके स्वरों में अनमनापन नहीं वरन आत्मविश्वास है। जीवन के प्रति शिकायतों का उनके पास जैसे अन्त नहीं है। उनके संकल्पों में दृढ़ता है। वर्तमान

सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक असमानता की सारी बुराइयाँ, दुर्गुण, दुःख और गन्दगी जो हमारे साहित्य को भी दूषित किये थी इन कलाकारों की आग्नेय प्रतिभा में भस्म हो रही है। इन कहानीकारों की कृतियों में उस जीवन की झलक है जो आज का जन-साधारण जी रहा है—वह जन साधारण जो पूँजीवाद के रक्त-स्नात पंजों में जकड़ा प्रतिक्षण चीखता रहता है। वर्तमान जीवन से ऊब कर मुर्दा विद्रोही स्वर में शोषण और उत्पीड़न के प्रति जैसा रोष और पनीली सहानुभूति प्रगतिशील कविता में दिखाई देती है वैसी कहानी साहित्य में नहीं है—यह हर्ष की बात है। कविता में अधिकाँश कवियों ने समाजवादी यथार्थवाद की जगह अपना अहंवाद और व्यक्तिवाद लाद रक्खा है। हिन्दी कहानी में सच्चे अर्थों में युगान्तर हुआ है।

आज की प्रगतिशील कविता के पीछे कुछ दलीलें हैं जिन्हें समझना आवश्यक है। जब जीवन के मूल्य बदल गये हैं—उनका अंकन बदल गया है तब कविता का क्या हो? प्रगतिवादी कवि कविता को सामाजिकता और राजनीति से अलग नहीं देखता। कवि कवि के साथ साथ मानव भी है और एक अधिक चेतन मानव। मानव की सहज वृत्तियों का उसे अनुभव है। इसलिये राजनीति और समाज विज्ञान से वह अलिप्त नहीं रहता। शा के शब्दों में जीवन कोई धुँधली और छोटी मोमबत्ती के समान नहीं—जीवन तो उस सुन्दर टार्च की तरह है जिसे मानव को, विश्व के इन विक्षिप्त क्षणों में पकड़ कर, अखन्ड प्रकाश के रूप में जलाकर देखना होगा ताकि मानवता की वर्तमान पीढ़ी के साथ साथ भावी सन्तति भी जीवन का आलोक देख सके। यही कवि का सच्चा बोध है। आधुनिक समाज रचना के अनियंत्रित प्रतिबिम्ब को चित्रित कर प्रगतिवादी कवि उस विश्वजनीन शान्ति की रूप रेखा खींचता है जिसके साथ-साथ दुनिया से अनय अनादर, अविश्वास, शोषण, गरीबी और बेकारी सभी कुछ नष्ट

हो जाँयगे। जीवन तो वही है जो मानवता को उत्पीड़ित और कराहता देखकर ज्वालामुखी की तरह धधक उठे। आज निराला, पन्त, भगवती चरण वर्मा, 'नवीन', दिनकर, उदयशंकर भट्ट, वैजनाथ सिंह 'विनोद', रामविलास शर्मा, नील कंठ तिवारी प्रदीप, शिवमंगल सिंह 'सुमन', शम्भूनाथ सिंह, श्रीकृष्ण दास, सर्वदानन्द वर्मा भारतभूषण अग्रवाल, निरंकार देव 'सेवक', सत्य नारायण शर्मा, नेमिचन्द्र जैन केदार, त्रिलोचन, कमल कुलश्रेष्ठ, सुरेन्द्र बालपुरी, नरेन्द्र, प्रभाग चन्द्र शर्मा, और गिरजा कुमार माथुर के गीतों में, प्रभाकर माचवे, शील, भैरव प्रसाद गुप्त आदि की कविताओं में जो में गति है—तेजी है—उनके शब्द शब्द की लपलपाती जिह्वा में जो रोष है वह समस्त मानवता का ही आक्रोश है। इन कवियों के गीतों में वर्तमान की कृत्तिम गुलकारियों में भटकने वाली भावना नहीं है—इन गीतों में "वेदना वरदान पाया" वाला सस्ता, क्षणिक और बनावटी उल्लास नहीं है। इनमें जीवन की सतत चालना है इतिहास के रक्त-रंजित चल चित्र हैं। दूसरी ओर रामविलास शर्मा और केदार की काटने वाली—एक कड़वी लकीर आँखों से लेकर आत्मा तक छोड़ जाने वाली कविताओं ने हमारे काव्य मूल्यों की जैसी debunking की है वह साहित्य का प्रत्येक सजग पाठक जानता है। उदय शंकर भट्ट की कवितायें आज उस जीवन को नवजीवन दान दे रही हैं जिसके रक्त से बड़ी बड़ी नभचुम्बी अट्टालिकायें और प्रासादों की नीवें सनी हैं। इन प्रगतिवादी कवियों का भविष्य में दृढ़ विश्वास है—मानव की अंतिम विजय पर आस्थापूर्ण श्रद्धा है। उनके सोचने की क्रिया चलती रहती है। इन कवियों ने अकल्पनीय और सहज दोनों प्रकार के विषयों पर कवितायें लिखी हैं। उन्होंने वर्तमान युग की विचारधाराओं को सर्वाधिक अंशों में स्वीकार किया है—इस युग को और भविष्य के रूप को वह प्रकाश में लाते हैं। जीवन का यथार्थ बोध

प्रगतिवादी कविता ने दिया है और दे रही है। जिस प्रकार बँदरिया अपने मरे बच्चे का मोह नहीं छोड़ पाती और उस शव को छाती से चिपटाये घूमती फिरती है वैसे ही छायावाद के शव को छाती से लगाये जो आलोचक बात-बात में प्रगतिवाद को कोसते हैं और अपने लघु-दीपक से प्राणों की निस्सीम वेदना के महासिन्धु में डूबा-उतराया करते हैं वे जान लें कि जो प्रगतिवाद की शक्तियों का विरोध करता है वह पूँजीवाद की शक्तियों का साथ देता है और प्रकारान्तर से 'फैशिज्म' का समर्थक है। लेकिन हिन्दी भाषी जनता को असीम-ससीम, साधना और व्यक्तिवाद के नाम पर—आत्मा और परमात्मा का प्रश्न उठा कर वे अधिक दिन बरगला और बहका न सकेंगे। हम स्पेन का गृह-युद्ध देख चुके हैं—फैशिज्म का नग्न-स्वरूप आज हमारी हड्डियाँ नोच रहा है—मँहगाई के कारण हमारे बच्चों को एक जून खाना मिलता है और हमारी माँ-बहनों के पास लज्जा निवारण के लिये पर्याप्त वस्त्र नहीं हैं। चीन का खूनी इतिहास हमारे सामने है।

प्रगतिवादी कविता में एक उद्दाम-उत्साह भावना है। उसके गीतों ने राजनैतिक जागृति और फैशिज्म के विरुद्ध जनमत पैदा करने में जादू का काम किया है। स्पेन्डर के "ट्रायल आफ जज" के न्यायाधीश के मानसिक द्वन्द्व और फैशिज्म और साम्यवाद के सत्य पक्षों की आलोचना आज जन-जन के मन में प्रतिक्षण हो रही है। धर्म और संस्कृति के नाम पर साम्यवाद का विरोध केवल ज़मीदार, महाजन, राजे और बड़े-बड़े सिविल सर्वेन्ट ही कर रहे हैं। भूखी नंगी जनता तो उसके स्वागत के लिये तैयार बैठी है।

पंडित उदय शंकर भट्ट की रेफ्यूज़ी और लुईशुई शीर्षक दो कवितायें जो लम्बी हैं और मुक्त वृत्त में लिखी गई हैं विशेष रूप से उल्लेखनीय

हैं। भट्ट जी सिद्धहस्त कवि हैं और अपनी रचनाओं में दो एक दृश्य चित्रित करने के बाद पाठक के सामने तमाम अन्य दृश्यों को इस तरह खींचते हैं कि एक अनूठा दृष्टि-विन्दु बन जाता है। स्पेन्डर ने अपनी "एक अज्ञात स्पेनिश कवि से" शीर्षक कविता में सम्पूर्ण स्पेन के गृहयुद्ध को जैसे दर्दभरे दृश्यों में उपस्थित किया है वैसे ही 'लुईशुई' में भट्टजी ने चीन जापान युद्ध के--जो असल में दो आदर्शों का युद्ध है—भयंकर दृश्य अपने विचारों की पृष्ठभूमि पर चित्रित किये हैं। यह सत्य है कि आज की संस्कृति की अनेक विभिन्नताओं और असंगतियों को हिन्दी के प्रगतिशील कवि की सृजन शक्ति नहीं पकड़ सकी परन्तु निकटवर्ती वातावरण के और समाज के व्यक्तिगत ध्येय के चटकीले चक्र हमें उसमें मिलते हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रत्येक अंग को उसमें स्पर्श किया गया है। पुरातन भावुकता और विक्षिप्तता के सपनों को तोड़ती 'मेकनीश' की प्रभात प्रेमिका की भाँति प्रगति हमारे साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में आ रही है और व्यक्ति के दृष्टिऊर्मि की समीक्षा कर रही है। सामाजिक मानव के व्यक्तित्व की समीक्षा आज कविता का लक्ष्य है। मानव हृदय में आदिकाल से संघर्ष करती हुई मान्यताओं के रूपक आपको उसमें मिलेंगे।

साहित्य और जीवन दोनों परस्पर उपयोगी क्रियायें हैं। मनुष्य इन्हीं क्रियाओं द्वारा निर्मित हुआ एक प्रकार का चेतन जीव है। अपनी क्रियाओं के साथ साथ आदमी की गति है और इन क्रियाओं के विकास के लिये उसे अनेक योजनायें बनानी पड़ती हैं—जिनमें उसकी बुद्धि का प्रदर्शन होता है। मानव जितना महान अपनी कल्पनाओं में होगा उतना ही अपनी क्रियाओं में भी। जहाँ की कल्पना निर्बल होती है वहाँ का समाज भी निर्बल होता है। आज समाज के सबसे उन्नत कल्याणकारी क्रियाओं

के मूल मेंप्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिवादी के हृदय में एक विद्रोह-भरी सृष्टि है और उसके जीवन के अग्र-स्थान पर एक प्रतीक है। उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया का मेल उस प्रतीक से होता है। साहित्य उसके लिये एक ऐकान्तिक अहम् और चारित्रिक विकृतियों की तुष्टि का साधन मात्र न होकर जीवन की एक अखण्डित उपकारक क्रिया है। प्रगतिवादी की दृष्टि में साहित्य जीवन को गढ़ने, दूसरे के जीवन को समझने, व्यक्ति व्यक्ति, वर्ग वर्ग के सम्बन्धों का सच्चा अर्थ ढूँढ़ निकालने, इतिहास, समाज विज्ञान और राजनीति के अन्तरंग में छिपी शक्तियों को उभारने, मूल्यों में परिवर्तन करने और कल्याणकारी प्रेम सृष्टि के विश्वव्यापी आविर्भाव (सामाजिक, आर्थिक समानता सौख्य और सुख की भूमि पर) का सबसे बड़ा साधन है। पृथ्वी का खून चूसनेवाली व्यवस्था आखिर कब तक चलेगी? आदमी को आदमी न समझने से—उसे पशु की कोटि तक गिरा देने से जो अव्यवस्था पैदा होती है वह जीवन के सौन्दर्य्य का हनन कर देती है। सौन्दर्य्य और कला आलस्य और विलास के पर्याय नहीं वरन जीवन के अन्तरतम सम्बन्धों से पैदा हुई योजना के लिये व्यवहृत शब्द हैं। इससे अन्यथा स्थिति में तो केवल अस्तित्व रहेगा—जीवन नहीं। एक वर्ग को इतना आराम मिले कि वह आलसी बन जाय—दूसरे वर्ग को इतना काम करना पड़े कि परिश्रम से वह टूट जाय—यह कहाँ का न्याय है? प्रगतिवाद सच्चा संस्कारी प्रजा जीवन चाहता है—संसार को एक नये सौन्दर्य्य विधान के अनुसार बनाने की कल्पना वह करता है। यह कल्पना कोरी कल्पना नहीं इतिहास की एक आवश्यकता है। समाज के क्रमिक विकास की एक कड़ी है। साहित्य सदैव ही नवजीवन की रचना का पाया बना है। उसने हर युग में, हर देश में (यदि वह रीति कालीन दरबारी कविता की भाँति ह्रासोन्मुख नहीं हो गया तो)

प्रजा में प्रचलित समस्त शक्तियों का, उनकी मर्यादाओं का सच्चा अनुमान कर आगे की ओर प्रयाण किया है। उसने सदैव लोक क्रान्ति के लिये लोक परिचय की साधना की है क्योंकि लोक क्रान्ति की सच्ची मर्यादा में ही लोक कल्याण की सिद्धि होती है।

प्रगतिवाद धर्म का विरोधी है—नास्तिकता का प्रचार करता है यह कह कर उसके विरुद्ध प्रचार किया जाता है। स्वयं इन पन्तियों के अकिंचन लेखक की लाइनें उदाहरण स्वरूप दे देकर धर्म की दुहाई दी जाती है। मैं दावे के साथ ऐसे महानुभावों से पूँछता हूँ—क्या उन्होंने धर्म का सच्चा स्वरूप—'स्पिरट' समझा है या केवल गतानुगति को ही धर्म और संस्कृति माने बैठे हैं। प्रगतिवाद ने कहीं संस्कृति और सभ्यता के आमूल नाश की माँग नहीं की है। वह तो पूँजीवाद और शोषण का नाश चाहता है। साम्यवाद भी धर्म का विरोधी नहीं ईश्वर और धर्म के नाम पर शोषण का विरोधी है। ग़रीब किसानों और मज़दूरों के पसीने की कमाई महन्तों और धर्म के ठेकेदारों के हाथ में देकर समाज ने जनता के साथ धोखेबाजी की है। साम्यवाद का एक धर्म है—श्रेणी-विभाग को हटाना और उत्पत्ति का ज़रूरत के अनुसार विभाजन करना। इतने बड़े अन्याय और शोषण का अन्त करके जो धर्म खड़ा होता है वह सबसे अच्छा धर्म नहीं है. यह जो कहता है, वह जनता का शत्रु है और देश-द्रोही है। हमारा तो एक ही धर्म है—पूँजीवाद का नाश--साम्राज्यवाद का अन्त—फैशिज्म का दाह। कुचली हुई प्रजा पर जो अत्याचार हो रहे हैं उनके प्रतिकार के लिये प्रगतिवाद ने अपनी सशक्त आवाज़ उठाई है। आर्थिक भेद भाव ही सब भेद भाव का 'मूल' है। जो संस्कृति सभ्यता के नाम पर उसका पोषण करती है वह हमारी शत्रु है। और पूँजीवाद जो स्वयं मुट्ठी भर होकर भी अपने हितों के नीचे

जनता और देश के समस्त हितों को दबाये बैठा है और फैशिज्म का पोषक है, अपने लड़खड़ाते चौखट को कब तक सँभालेगा जब प्रगति का अर्थ ही पूँजीवाद का नाश है। जब तक व्यक्तिगत स्वार्थ रहेंगे तब तक लोगों को समाज का—जनता का सामूहिक स्वार्थ विचारना कठिन होगा। प्रगतिवाद इसी व्यक्तिगत मुनाफे पर आधारित पूँजीवाद का नाश करने के लिये साहित्य की शक्तियों को प्रेरणा दे रहा है।

नई हिन्दी कविता की सामाजिक पृष्ठभूमि

— :o:—

हिन्दी कविता प्रयोगात्मक अवस्था से होकर गुजर रही है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि समाज के आर्थिक ढाँचे, वर्गों के निर्माण और विभाजन को समझे बिना किसी युग की साहित्यिक विचार-धारा को सचाई और गहराई के साथ नहीं समझा जा सकता। तर्क के रूप में सौन्दर्य्यवादी और छायावादी आलोचकों द्वारा कहा जाता है कि मनुष्य केवल रोटी के सहारे ही ज़िन्दा नहीं रह सकता। परन्तु यह सच है कि वह रोटी के बिना भी अधिक समय तक नहीं जीवित रहेगा। ऐतिहासिक भौतिकवाद के समर्थक यह भूल जाते हैं कि केवल समाज के आर्थिक ढाँचे से ही विभिन्न आदर्श—धाराएँ निरूपित नहीं होती हैं। वरन उनकी कियाएँ और प्रतिक्रियाएँ भी सामाजिक (सामूहिक और व्यक्तिगत) चेतना पर चलती रहती हैं। यही प्रतिक्रियाएँ सामाजिक चेतना से छनकर सामाजिक-राजनैतिक ढाँचे पर आती रहती हैं। अन्त में देखा जाता है कि समाज का मूलाधार आर्थिक ढाँचा ही बदल जाता है। इसीलिए वे इस दुरूह अन्योन्याश्रय और अन्योन्याघात को भूल जाते हैं। लेकिन संस्कृति कहे जानेवाले एक बड़े और शानदार ढाँचे को तो समाज के संगठन और विन्यास पर जो मूलतः आर्थिक नींव पर है, निर्भर रहना पड़ता है। आज का समुन्नत समाज विज्ञान संस्कृति को इसी रूप में देखता है और ऊपर कहे गये अन्योन्याघात की

कोई भी सीमा संस्कृति की इस रूप रेखा के सत्य को अस्वीकार नहीं कर सकती। यहाँ मेरा यत्न होगा कि कच्चे-विश्वासों की आत्मघाती परम्परा के सहारे संस्कृति, विशुद्ध कला और साहित्य पर उनके किन्हीं निजी, अनजान और रहस्यमय आलोचनात्मक उपकरणों द्वारा विचार न करके उन्हें सामाजिक व्यवस्था और उसकी प्रवर्त्तक और चालक शक्तियों के प्रकाश में देखूँ। साहित्य और विशेषकर कविता उसी के फलस्वरूप आगे आती है। मनुष्य में जीवन के प्रकार, उसके विचार और रसावेग मुख्यतः उसके अपने को जिन्दा रखने के ढंग पर निर्भारित होते हैं। साथ ही किसी समाज के सामूहिक विचारों और भावनाओं के पुञ्ज का वह स्वरूप जो साहित्य में प्रकाशित होता है—उसके धर्म और दर्शन का जामा पहनकर सामने आता है; अधिकतर उन पदार्थों के उत्पादन, वितरण और विनिमय के प्रबन्ध पर निर्भर करता है जिन्हें वह समाज अपने निरापद और सतत अस्तित्व के लिये आवश्यक समझता है। इसलिये साहित्य की आलोचना में भी केवल बाह्य रूपों और सौंदर्य्य-संकेतों पर न रीझकर भीतरी व्यक्तिगत और जातिगत जीवन को देखना होगा।

हिन्दी कविता का पुनर्जागरण या चेतना का रसात्मक जागरण, उसे जो भी कहा जाय, महायुद्ध के बाद आरम्भ हुआ और दूसरे महा-युद्ध के पहले ही—समाप्त हो गया। इस पुनर्जागरण या सांस्कृतिक जागरण ने (स्मरण रहे संस्कृति से मेरा मतलब यहाँ और आगे भी बराबर एक फुरसत से रहनेवाले धनी अल्पदल के या उन्हीं के कृपा-छत्र के नीचे पलनेवाले और हर बात में उन्हीं की मुर्दा नक़ल करनेवाले 'अल्पसंख्यकों की संस्कृति' से है) हिन्दीभाषी प्रान्तों के औसत कवि और कविता प्रेमी की आशाओं को अति भव्य और मनोरम

सम्भावनाओं की ऊँचाई तक उठा दिया। यह आशा भी हो चली थी कि गत महायुद्ध के बाद की दुनिया उसके पेश्तर की दुनिया से, जहाँ तक मूल आर्थिक, चारित्रिक और आचारिक उपकरणों का सम्बन्ध था विभिन्न होगी यद्यपि यह प्रत्येक औसत समझ का व्यक्ति भी समझ गया था, कि पिछला युद्ध प्रजातन्त्र के समर्थक देशों द्वारा जीता नहीं गया था बल्कि किसी प्रकार खत्म किया गया था। उस समय यहाँ का उच्च मध्यवर्ग पराधीन देश में हो सकनेवाली अधिक से अधिक उन्नत अवस्था में था - सम्पन्न था—पूर्णतः स्फूर्ति पूर्ण और विश्वास-पूर्ण। वह जानता था कि उसे क्या चाहिये और इस बारे में उसे रंच मात्र सन्देह नहीं था कि अपने अभीष्ट को पाने, उपभोग करने और पीढ़ी दर पीढ़ी जायज़ या नाजायज़ तरीके पर उसे क़ायम रखने का उसे अधिकार है। वह संस्कृति और संस्कारशीलता के प्रभावों के प्रति ग्रहणशील था। उस समय रीति-कालीन या द्विवेदी कालीन कविता को जो केवल नकल (art as imitation) मात्र रह गई थी छोड़कर हमारे इसी वर्ग ने कला के संवेदनात्मक (art as communication) पहलू को पकड़ा। फल-स्वरूप छायावाद का जन्म हुआ। छायावाद जीवन की गति से रहित था। अधिक से अधिक उसमें दिमाग़ और आत्मा की एक भावनात्मक उत्तेजना थी। उत्तेजना तथा कर्म दो विभिन्न वस्तुएँ होती हैं। आइने में अपना प्रतिबिम्ब जब हम देखते हैं तो वह कर्मशीलता या गति नहीं होती वरन् गति की छाया होती है। छायावादी युग के शुरू-शुरू में लिखी गई निराला की 'जमुना के प्रति' और पन्त की 'परिवर्तन' ये दो प्रसिद्ध कविताएँ भी जीवन-गति-हीन, समय के प्रवाह में एक दूरी से देखी जानेवाली—गति का आभास हैं। यहाँ नाम केवल इन्हीं दो कविताओं का लिया गया है। नहीं तो छायावाद के आरम्भ का सारा काव्य वर्तमान की विभीषिकाओं से बच निकलने के लिए

भूत में आश्रित एक पलायन था। आश्चर्य तो उस समय होता है जब पन्तजी जैसे हमारे नेता कवि भूत का स्टाक खत्म हो जाने से, उसमें अब वास्तविकता न रह जाने से, भविष्य की ओर भागते हैं। वर्तमान को न सहन कर सकनेवाले वे और उनके से अन्य कवियों की भागने की यह क्रिया अब तक चली जाती है। छायावाद की काल्पनिक ऐकान्तिकता जो पलायन वृत्ति का दूसरा नाम है ऐसे ही छायालोक का रूपक थी। आलोचकों के लाख चिल्लाते रहने से ही यह चीज़ कल्पना नहीं कही जायगी। कल्पना तो वह क्रिया होती है जो पूर्ण स्फूर्ति और उत्साह के साथ पूरी शक्ति के साथ जगत द्वारा उपस्थित किये गये भौतिक पदार्थों पर काम करती है। इसके विपरीत छायालोक में दुनिया ठुकरायी जाती है और एक दूसरी अवस्था ग्रहण की जाती है। स्मरण रहे कोई भी आलोचनात्मक अनुशीलन जो साहित्य में इस भावुकता-पूर्ण छायालोक की छानबीन करता है कवि द्वारा इस औसत दुनिया के ठुकराये जाने की क्रिया के कारणों को भी देखता है। यही इस छायालोक के अस्तित्व की शर्त है। 'The world is too much with us' इस भावुकता का कारण था। जीवन और रुचियों की एक झूठी संस्कार-शीलता की अवांछनीय तृप्ति के लिए गढ़े गये कुछ रोमान्टिक सपनों का और पौराणिक विश्वासों का यही रहस्य था। गद्य में यही चीज़ बच्चों के लिए परियों की कहानियाँ बनकर सामने आती है। जिसका अधिक साहित्यिक और चमत्कारपूर्ण रूप 'नीलम देश की राजकन्या' या सुदर्शन और भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कुछ कहानियों में पाया जाता है। नहीं तो, बच्चों को केवल परियों की कहानियों से ही सन्तोष नहीं दिया जा सकता। वे सच्ची और इसी दुनिया की यथार्थ-वादी कहानियों से भी बहलाये जा सकते हैं। ज्यों ज्यों विज्ञान और व्यवसाय की दुनिया में फैलते हुए संघर्ष, वाह्य प्रकृति की पराजय

और मानव समुदाय के नित बढ़ते हुए निर्यातन का पहलू सामने आया त्यों त्यों ये छायावादी कवि अपनी आत्मा की अन्तस्तली में ही घुसते गये। विचारों के जीवन के बजाय क्षणिक उत्तेजनों का जीवन ही उन्हें अधिक रुचने लगा। बीच-बीच में वे सम्पत्तिशाली वर्ग की भावुकतामय अतीन्द्रियता और आदर्शवाद की ओर भी झुक जाते थे। कभी-कभी कुछ ऐसी रचनायें अवश्य हो जाती थीं जो पूँजीवादियों में सद्बुद्धि और आत्मिक चेतना के जगाने का यत्न करती थीं। परन्तु पूँजीवाद को जड़ से खोदने और नष्ट कर देने की ओर निगाह जाती भी तो कैसे !

छायावाद के ही समानान्तर हिन्दी कविता में एक दूसरी धारा भी चल रही थी जो उस समय शुरुआत ही पा सकी। उसका अधिक स्वस्थ और निखरा रूप बाद में, छायावाद की ह्रासोन्मुखता के साथ साथ उभरा। उसे यथार्थवाद की धारा कह सकते हैं। 'नवीन' को एक प्रकार से उसका प्रारम्भकर्ता कहा जा सकता है। यह यथार्थवाद आगे चलकर नैराश्यवाद का रूप धर गया। इसकी भी एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। महायुद्ध के बाद मानसिक संक्रान्ति और सन्देहात्मकता का जो युग आया उनके प्रवाह में बहकर एक बड़े वर्ग ने पुरानी धारणाओं और विश्वासों को त्याग तो दिया परन्तु उनके स्थान पर उसने नये नये विश्वास ग्रहण नहीं किये। ये कवि वर्तमान व्यवस्था के खोखलेपन और दिवालियेपन से अवगत हैं—उसके कायल है। उन लोगों के प्रति जिनके हाथ में अधिकारों की धाक है—केवल उन्हींके नहीं बल्कि जो अधिकारों के लिये लालायित हैं, ये सशंक और अविश्वासी तो हैं परन्तु ये स्वयं कोई उपचार नहीं बताते क्योंकि इनका किसी पर विश्वास नहीं है। एक प्रकार का बौद्धिक अराजकवाद इनमें है। ये केवल दर्शक और जीवन के आलोचक हैं। इनको एक घनी गहरी निर्यातमक और व्यक्तिवादी

प्रतीति है जिसके कारण ये अन्य अपने जैसे लोगों के जीवन को सुधारने, सुनिश्चित और नियमित करने, या मानवता के ऊँचे स्तर पर स्थापित करने में सकुचाते हैं। इसे ये शायद बेजा और खतरनाक समझते हैं। दूसरी ओर दर्शन और राजनीति दोनों का प्रत्येक पूर्ण सिस्टम एक सार्वभौमिक और व्यावहारिक विश्व-योजना पर दूसरों के जीवन की व्यवस्था करना चाहता है। आधुनिक सभ्यता के प्रति यह वर्ग इसलिए सहिष्णु है कि वह दूसरों द्वारा सताये जाने और उत्पीड़न से व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा करती है। दूसरी ओर वे उसे बरदाश्त भी नहीं कर सकते। कारण आधुनिक सभ्यता की वह जिद्दी प्रवृत्ति है जो मानव-मस्तिष्क और चिन्ता-धारा को उस नये तुले पैटर्न (नमूने) पर जकड़ कर जड़ कर देती है जो एक बहुमत को, चाहे वह कितने बड़े मूर्खों और क्षुद्र व्यक्तियों का क्यों न हो, मान्य है। छायावाद की यह देन मानी जायगी कि उसने द्विवेदी युग की रूढ़िबद्ध नैतिकता और मुर्दापन के बोझ से दबे हुए हिन्दुत्व की अवहेलना करना सिखाकर एक मूक आचारिक परिवर्तन या क्रान्ति के लिए धरती तैयार की और चालचलन या विश्वास विशुद्ध व्यक्तिगत प्रश्न समझे जाने लगे—जहाँ तक वे दूसरों की स्वाधीनता में विघ्न न डालें। देवी रुष्टता से भी लोगों का विश्वास उठ चला। इस निराशावाद का एक उपयोगी 'रोल' भी है। यह निराशावाद जो यथार्थवाद की आड़ में आगे आया यथार्थ में निराशाजनक था—पराजयवाद का ही रूप था। परन्तु इस पराजयवाद ने ही यह बताया कि आज की बेतरतीबी, बेरोज़गारी और बेकारी के युग में, मनुष्य की सीमित जीविका के क्षेत्र में, वह प्रायः जीवित रहना सीखने के पहले ही मर जाता है। छायावाद में शुरू-शुरू में उसने जो दिवास्वप्न देखे और अफ़ीम के अस्वस्थ्य, झपकी देनेवाले नशे में उसने अपने मध्य वर्ग की उठती उमंगों का जैसा क्रीड़ा, कलरव और मधुर हास सुना था वह दूसरे ही क्षण

शून्य में विलीन हो गया। रह गया सामने गाल्सवर्दी के एक उपन्यास में वर्णित एक डिकेडेन्ट परिवार के चित्र-सा समाज का यह नंगा रूप

'Curiously symptomatic—that thing; momument to the dread of swank—most characteristic... The fine, the large the florid—all off! No far-sighted views, no big schemes, no great principles, no great religion or great art—aestheticism in cliques and backwaters, small men in small hats. यह चित्र उस वंश का है जो इसी लेखक के शब्दों में flourishing with bland, full foliage in an almost repugnant prosperity at the summit of its efflorescence। इसी घृणित समृद्धिशीलता और अवहेलना की प्रवृत्ति में उस परिवार के और छायावाद के पतन के बीज छिपे थे। परन्तु इस निराशावाद और पराजयवाद के भीतर एक चलते जाने की गति थी। इस श्याम विषाद की मनःस्थिति ने सारी झूठी उम्मीदें त्यागकर भी बहुतों के दिल में हाथ में आया हुआ कोई भी कार्य करते जाने की (नेताओं के उचित नेतृत्व न देने पर भी) एक धुन पैदा की और विकसित की। शा ने जिसे स्वर्ग की रिश्वत कहा है न केवल उसी अप्सरा का बल्कि आशा की रिश्वत का मोह भी बहुत से मुस्तैद और कार्यशील लोग त्याग चुके थे। उस नैराश्य से उन्हें यही शक्ति मिली—तत्परता से, आशा की कल्पना से मिलनेवाले पुरस्कार का ध्यान छोड़कर कार्य किये जाना। छायावाद की कविता ने यह बताया—यह सामाजिक चेतना दी कि सदाचार पूर्वक रहनेवालों में भी सभी सुखी नहीं रहते—कुछ सुखी हो पाते हैं और कुछ दुखी जैसा कि

आचार-विहीन जीवन बिताने वालों का हाल होता है। जो पाप में लिप्त रहते हैं वे भी सदैव दुखी नहीं रहते—उनमें भी कुछ सुख पाते हैं और कुछ दुःख। जब नैतिकता और सामाजिक अधिकारशीलता आज के नवयुवक और युवतियों के उचित और स्वाभाविक प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकी और यदि देती भी थी तो घिसे हुए, अमौलिक और पिष्ट-पेषक ढंग से, तब अपनी इस निराशा की उदासीनता में वे असन्तुष्ट युवाजन इस अधिकार-सत्ता के सारे स्वरूपों और उसके स्रोतों के प्रति विद्रोही हो गये। उनमें एक प्रेरणा और धुन जागी—अपने विवेक और सहज-ज्ञान पर निर्भर रहने की। परन्तु कविता से जो जरूरी माँग की जाती है कि वह जीवन का एक नूतन 'विज़न' दे और साथ ही एक स्वस्थ और बौद्धिक स्फूर्ति भी दे—ये दोनों उस अन्तर्मुखी होने के नाम पर भीतर ही भीतर घुटते रहनेवाली और कल्पना और अनुभूति के सधे हुए मापदन्डों की दुहाई देकर जीवन की विषमताओं से पलायन की वृत्ति का प्रतिनिधित्व करनेवाली कविता से नहीं पूरी हुई। उसमें जीवन और मानस के तेज की कमी तो थी ही उस रस का भी अभाव था जो जन-संपर्क से पैदा होता है या पैदा किया जाता है। यही नहीं सामाजिक संघर्षों और सजीव सक्षमताओं से दूर हटकर कविता जीवन के गम्भीर व्यापारों से दिन-प्रतिदिन दूर होकर, कवि को ही सनक और 'इडिओसिन-क्रेसी' की चित्रावली बनती गई। कलाकार एक 'hot house plant' के किस्म की चीज़ हो गया और कविता पुरुष और स्त्री के लिए न होकर पुरुष और स्त्री कविता के लिए हो गये। विषय की प्रधानता न होकर वह कलाकार या कवि-विशेष की प्रधानता का ज़माना था और यही कारण था कि वे बराबर पुजते जाने के कारण दुर्भिक्ष की सी विभीषिकामय ग़रीबी और क्षय-ग्रस्तता की ओर से बराबर विमुख रहे। आश्चर्य तो यह है कि मध्य-वर्ग के

होते हुए भी और उसकी असुविधाओं और अन्य कटुताओं के विवश शिकार होते हुए भी वे छायावाद, रोमान्सवाद, गीतिवाद और व्यक्तिवाद के जादू में फँसे रहे और सामन्तशाही की ध्वस्त-त्रस्त होती हुई सुघरताओं से ही अपने काव्य और टेकनीक के प्रसाधन करने में लगे रहे। राजनैतिक और सामाजिक चेतना उस युग के कवियों में बहुत कम थी। इसी कारण वे या तो एक काल्पनिक प्रिया, भावुकता और छाया से चिपटे रहे या बच्चन की तरह रोमान्सवाद और यथार्थवाद में कुछ समय तक इधर उधर रहकर व्यक्तिवाद की उस परिधि में आये जहाँ वे सम्राट हैं। जीवन और संघर्ष के बोझ से टूटे, युद्ध से निचुड़े और चुसे, अन्ध-विश्वासी, पराजित और निराश मानव की अन्तिम विजय के गीत हम उनसे नहीं सुन पाये। आज अवश्य इनमें से कुछ कवि अपने व्यक्तिवादी, पेटीबुर्जुआ और अर्ध-सामन्तशाही दायरों को छोड़कर युग की (जिसमें वे रहते हैं और रहेंगे) पूरी-पूरी यथार्थता को समझकर आगे आये। उन्होंने कुरूप वास्तविकता को अपना घर बनाया और मृत्यु में होकर जीवित रहने—यथार्थ जीवन की चरम विजय की ओर उनकी दृष्टि गई।

इसके बाद से हिन्दी कविता एक नये मोड़ पर आती है। यह मोड़ है इलियट के शब्दों में एक विकास जिसे हम एक बायोलोजिकल क्रिया कहेंगे। इलियट ने कहा है 'Originality is by no means a simple idea in the criticism of poetry. True Originality is merely development' छायावाद के युग में मानों लेखकों और कवियों का मन्त्र था 'तुम चुन लो'। इस नयी कविता में स्वच्छ्य और सौज क्रिया (प्रतिक्रिया नहीं) है 'तुम किसी विषय या वस्तु का परित्याग न करो।' उचित होगा कि इस परिवर्तन को अवास्तविक न कहकर अति वास्तविक कहें

और एक क़दम और बढ़ें। आज की कविता को जो इधर कुछ वर्षों में लिखी गई हैं और भविष्य में लिखी जायगी समझने के लिये यह आवश्यक है कि पाठक देश के राजनैतिक जीवन और एक ओर दबने वाली और उसी के समानान्तर दूसरी ओर उभरनेवाली सामाजिक शक्तियों और वृत्तियों के मूल्यांकन, मनस्तत्व विश्लेषण और विज्ञानीकरण से सम्पूर्णतः परिचित हो। आज की कविता अपने युग की विचारधारा को सर्वाधिक अंशों में स्वीकार करती है। इसलिए कवि अपनी कविता में इस युग को और भविष्य के रूप को प्रकाश में लाता है। भविष्य का वह रूप नहीं जो कल्पनावादी और वर्तमान से भागनेवाले, उसे समझने से मुँह छिपाने वाले और पलायकवृत्ति से ग्रसित हमारे प्रगतिशील कवि खींचते हैं वरन वह भविष्य जो प्रगति की ओर है—स्वाभाविक है और वर्तमान परिस्थितियों के यथार्थ निरूपण से फूटता है और जिसमें स्पेन्डर के शब्दों में मनुष्य मनुष्य बनेगा। आज का कवि केवल कवि न रहकर एक महान संघर्ष के वास्तविक या बौद्धिक सिपाही के रूप में अपने को देख रहा है।

पिछले खेवे के और आज के साहित्य में मौलिक अन्तर है। यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दी जाय। आज के तथाकथित प्रगतिशील लेखक और कवि पेटीबुर्जुआज़ी के दैनिक व्यापारों और समस्याओं का चित्रण तो करते हैं परन्तु ऐसा करते समय वे अपने पेटीबुर्जुआ विचारों को छोड़ नहीं पाते। नतीजा यह होता है कि उनकी कृतियों में जीवन और रंगों की कमी आ जाती है। न तो उनमें कुछ निश्चित लक्ष्यों की स्थापना होती है और न वे आज के जीवित महाप्राण सामाजिक वातावरण के निकट आ पाते हैं। उनके साहित्य में हमें आज की सजीव सामाजिक चेतना और प्रेरणायें नहीं मिलती। मानव

जीवन की हाहाकारी पुकारों का व्यक्तीकरण और आर्थिक एवं सामाजिक संस्कार हमें उनकी कविता में नहीं मिलता। साहित्य में हमें मिलता है अचेतन के अतिरंजित मनोवैज्ञानिक आकर्षणों में उलझा हुआ साहित्यकार का अस्वस्थ्य रूप और अचेतन की नग्न व्याख्या। उन लेखकों की दुनिया अपने ही स्वरूप तक सीमित है—वैसी ही सीमित उनकी 'अपील' की परिधि है—केवल उन्हीं लोगों तक जो इस ऐन्द्रजालिक वृत्त में रहते हैं और इन गुप्त संकेतों को समझते हैं। दूसरे कैम्प में वे साहित्यकार (!) आते हैं जो प्रगतिशील तो हैं परन्तु साहित्य सृष्टा नहीं। साहित्य का जो एक ऊँचा और गम्भीर स्तर होता है, उससे ये अपरिचित रहते हैं। ये 'फ़ार्मेलिज्म' में खो जाते हैं और केवल शब्दों और ध्वनियों का चयन किया करते हैं। ध्वनियाँ महत्व-पूर्ण होती हैं मगर साहित्य केवल ध्वनि नहीं है। अपने आस-पास की वस्तुओं और सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय आन्दोलनों का अर्थ समझाये बिना ये ध्वनियाँ अपने सृजेताओं का अग्रहणशील रूप ही सामने रखती हैं।

प्रगतिशील कविता जन जागृति की संदेशवाहिनी है और करवट लेते हुए ज़माने की तस्वीर है। जीवन के सुषुप्त पौरुष और पुन्सत्व को जाग्रत करने का स्फूर्ति-उच्चार है। जिनका इतना अधिक शारीरिक मानसिक और दिमागी शोषण हुआ है कि जो स्वयं क्षय के कीटाणु बन गये हैं—जिनकी जिन्दगी और मौत में कोई अन्तर नहीं है उन्हें वह संसार के सब प्रतिगामी कार्यकलापों के प्रति द्रोह करने की दीक्षा देती है। प्रगतिशील कविता उन क्लीवों के लिए एक चुनौती है जो नारी को 'योनि मात्र' या एक बायोलोजिक आवश्यकता भर समझते हैं और इससे अधिक उसका सामाजिक और मानवीय मूल्य नहीं आँकते।

२

नई कविता या उस कविता पर लिखने के पूर्व जो जीवन हीन और निरुत्साह-पूर्ण छायावादी कविता के प्रति विद्रोह कर आगे बढ़ी, हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की सामाजिक शक्तियों की रूप-रेखा दिखानी होगी। हमारे यहाँ का जैसा सामाजिक संगठन है उसके कारण जमीदारों और किसानों के दो बड़े दल हैं। परन्तु जनता के विभाजन की दृष्टि से इस उच्च-वर्ग, मुट्ठीभर और स्थिर-स्वार्थी सामन्ती सरदारों और निम्न स्तर के कोटि-कोटि नंगे-भूखे कृषकों के बीच में एक मध्यवर्ग है जिसमें व्यापारी, प्रोफेसर, दूकानदार अध्यापक, क्लर्क और साहित्यिक हैं। यह मध्यवर्ग मुख्यतः ज़मीदारों, ताल्लुकेदारों, और देशी पूँजीवादियों या अँगरेजी साम्राज्यवाद के कृपाछत्र के नीचे रहता है और पनपता है। स्वतन्त्रता के आन्दोलन के विकास और कान्ग्रेस की परिधि के प्रसार के साथ-साथ इस मिडिल क्लास में एक प्रकार की आवेगात्मक स्वदेश-भक्ति और व्यावहारिक राजनैतिक चेतना का उदय हुआ। सन् १९३० के लगभग जब महायुद्ध के बाद के आर्थिक संकट का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ और जब जनता बुर्जुआ या पेटी-बुर्जुआ नेतृत्व के इन्द्रजाल से मुक्त होने को अग्रसर हुई उस समय इस मध्यवर्ग ने किसी ठोस, निश्चित और यथार्थ वस्तु की ओर ध्यान दिया। जनता की ओर उनकी दृष्टि गई। सर्वहारा ने उन्हें अपनी शक्तियों को उभरता और पनपता दिखाया। भारतीय जनता में उस समय समाजवाद का तेज़ी से प्रवेश हो रहा था। किसान आन्दोलनों का रूप निर्धारित हो रहा था और श्रम-जीवी मज़दूर संघों का विकास हो रहा था। देशी रियासतों की जनता में राजनैतिक चेतना आ रही थी। ऊँची बुर्जुआ क्लास के रोमान्टिक हीरो हमारे नेता भी उस समय समाजवाद की

हुँकारें सुना रहे थे। सोवियत यूनियन में विराट समाजवादी प्रयोग तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। सारा यूरोप बेरोज़गारी और अन्न-वस्त्र के अर्ध-दुर्भिक्ष के दलदल में बिलबिला रहा था। यूरोप के दिवालिया और अधःपतित मध्यवर्ग ने फेसिज़्म की शरण ली। उधर दूसरे साम्राज्यवादी युद्ध के खतरे की घण्टी मन्चूरिया, स्पेन, आस्ट्रिया, एबीसीनिया और चीन में बज उठी। यह मध्यवर्ग उस समय एक चौराहे पर खड़ा था जिसके समाने दो मार्ग थे। वह सोच और समझ नहीं पाता था कि क्या करे। एक मार्ग था पूँजीपतियों के संगठनों और ऐसी ही इतर संस्थाओं द्वारा जनता का शोषण करते हुए फेसिज़्म की ओर, और दूसरा था जनता के साथ अपने को खपाकर, मिटाकर, एकाकारकर समाजवाद की ओर। मध्यवर्ग के एक हिस्से में वे लोग थे जो पूँजीवादियों के साथ रहे और उनके किराये के टट्टू बने। उस समय उभय मध्यवर्ग के एक भाग ने तो राष्ट्रीयतावादी पूँजीपतियों और ब्रिटिश पूँजीपतियों के साये के नीचे, उनकी अनुकम्पा के सहारे जनता के संगठन और व्यापक दल बनाने शुरू किये। परन्तु दूसरे दल ने जो इस दल से भी ज्यादा अग्रगामी और राजनैतिक चेतना से पूर्ण था मज़दूरों और किसानों के साथ अपने को खपा दिया। दोनों एक हो गये। एक छोटा-सा दल उन शिक्षा-शास्त्रियों, इञ्जीनियरों, सिविल सरवेन्ट और साम्राज्यवाद एवं नौकरशाही के दूतों का था जो शक्ति और व्यवस्था क़ायम रखने वाले होते हैं। संक्षेप में यही सामाजिक शक्तियाँ थीं जो हिन्दी भाषी प्रान्तों में काम कर रही थीं। आज का हिन्दी साहित्य, विशेषकर हिन्दी कविता हमारे मध्यवर्ग के बुद्धिवादी युवकों पर पड़ी इन शक्तियों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का फल है। स्मरण रहे यह सब पिछले दस बारह वर्षों का ही लेखा है।

आधुनिक या प्रगतिशील कही जानेवाली कविता भले ही कुछ लोगों की समझ में आज न आवे परन्तु उसका एक विशेष अर्थ है, जिसका भावी जीवन के साथ लगाव है। आधुनिक साहित्य में विशेषकर कविता में कुछ प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ ऐसी हैं जो भविष्य की भूमिका हैं। साहित्य केवल एक समीक्षा या आकलन ही नहीं है। वह एक सन्देश, एक परिपूर्ति है। हमारे वर्तमान युग को साहित्य से एक चैलेन्ज—एक बौद्धिक चुनौती मिल रही है जो दूर तक जाती है। आज साहित्य में वे गहराइयाँ और ऊँचाइयाँ आ गई हैं जिनका पिछली दशाब्दी ने स्वप्न भी नहीं देखा था। मानवीय चेतना आज अपने ही अज्ञात और अविज्ञात संघर्षों से उलझी हुई है। एक ओर जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को अनजान साम्राज्यों के ऊपर प्रभुता प्रदान की है वहाँ दूसरी ओर आज के समुन्नत मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने उसे यह भी अनुभव कराया है कि स्वयं अपने ऊपर उसका कितना कम अधिकार है। स्वयं अपने भीतर की अचेतन या अर्धचेतन वृत्तियों ने उसे कितना विवश कर रक्खा है। उसकी बुद्धि पर अपरिज्ञात अगोचर भावनाओं के जो गुप्त आक्रमण हुआ करते हैं वे बड़े से बड़े जड़वादी मानस-शास्त्रज्ञ की बुद्धि को भी चकित कर देते हैं। उधर राजनैतिक सत्ता के रूप में उठनेवाली सामाजिक परिस्थितियों ने उसे यह भी बता दिया है कि उसके जैसे मानवों के इस संसार को पूँजीवाद ने कैसा कमीना और जघन्य स्वरूप दे रक्खा है। आज की कविता के स्वर और आवेग में इन्हीं सब की नवीनता और विचित्रता है। वह एक सुदूर-प्रसरित दृष्टि का चिर-उद्घाटित आत्मचिन्तन लेकर आई है। आज की प्रगतिशील कविता

जीवन के दैनिक चित्रों के पीछे की विराट पृष्ठ-भूमि को जगाती है—उस पृष्ठ-भूमि को जिसमें हमारी प्रवृत्तियों के यथार्थ मूल्य निहित हैं।

नई कविता आज की दुनिया में बीतनेवाली बातों को बौद्धिक ढंग से कहती है। वह आधुनिक है और आधुनिक मस्तिष्क को ही पुकारती है। प्रगतिशील कविता ध्वनि या ऐसे ही अन्य काव्य-संस्कारों की, एक सीमा के बाद आश्रिता नहीं है। वह निःसहायों और निर्धनों, पूंजीवादी व्यवस्था के लौह चक्र के नीचे पिसनेवाले अनन्त मानव समुदाय की तीव्र वेदना को ज्यों की त्यों रखती है। वह पग पग पर ध्वन्यात्मकता और झूठी संस्कारशीलता की मुखापेक्षी नहीं। अनदेखे बह जानेवाले आंसुओं को वह आग की ज्वाला में सोचती और कहती है। उगते यौवन की आँकाक्षा जो मध्यवर्ग के एक अर्धस्वस्थ्य और अर्धरुग्ण, अपने कम्पलेक्सेज के शिकार, न्यूरोसिस से ग्रस्त युवक की मनोभावना का ही दूसरा और रोमान्टिक नाम है आज उसे अपनी ओर उतना नही खींचती जितना मानवता के असंख्य छोटे छोटे टुकड़ों का महा-क्रन्दन। आज के प्रगतिशील कवि का हृदय जीवन के क्षयी रोमान्स की कल्पना और रस में इतने जोर से नहीं धड़कता कि उसमें दर्द होने लगे। आज तो वह चैतन्य की धार बहानेवाला विद्रोह फूँकता है। वर्तमान आर्थिक अव्यवस्था की प्रेरक और चालक शक्तियों से उसका संघर्ष है और यह उसका ही नहीं उसके जैसे करोड़ों के अस्तित्व का सवाल है। दूसरी ओर वह अपने जीवन के शारीरिक क्षण में यदि नारी के ऊपर मर सकता है और उसके नारी अंगों की प्रशस्ति गा सकता है तो उसकी सामाजिक स्थिति का शर्मनाक और उत्पीड़क पहलू समाप्त करने के लिए आन्दोलन और क्रान्ति का झंडा भी खड़ा कर सकता है। उसने किया है।

प्रगतिशीलता ने हिन्दी कविता को एक नया जीवन दिया है और उस जीवन के प्रकाश में हिन्दी कवियों ने अपना गंतव्य भी पा लिया है। जगत और जीवन के प्रति जो उसका एक विकसित एवं सन्तुलित रुख है और अपने आदर्शों के प्रति जो सतत जागरूकता है वह साहित्य के प्रतिक्रियावादी स्तर को बहुत पहले ही ठुकरा चुकी है। कला की दुनिया की क़द्रें और मान्यताएँ बदल जाने से आज साहित्य और कला दोनों वर्ग-विशेष की ही सम्पत्ति नहीं रह गये हैं। जब साहित्य को शिव का रोल पूरा करना है तब वह थोड़े से, सुख की लोरियों द्वारा नींद लेनेवाले पूँजीवादियों की प्रतिष्ठा, गौरव एवं सौन्दर्य के स्थाई स्मारकों का कला-आन्दोलन मात्र कैसे रह सकता है। नीत्शे और शा के स्वर में स्वर मिलाकर प्रगतिवादी कवि यह तो नहीं कहेगा कि नूतन की सृष्टि के लिए अतीत को सदा के लिए क़ब्र में दफ़ना देना चाहिये। परन्तु जीवन की रसात्मक प्रवृत्तियों का दुश्मन न होते हुए भी वह पक्षियों की सी क्रीड़ापूर्ण चुहलों में, अपने घोंसले के तंग दायरे में, प्रेम की चोंचें तो नहीं चला सकता। वह स्वास्थ्य और बल का अभिलाषी है। स्वस्थ शारीरिकता और सेक्स के स्पष्ट संकेत भी उसे मानसिक हस्तमैथुन करने वाले गायक कवि के, किसी काल्पनिक प्रिया के विरह प्रवास में लिखे रुग्ण संवेदनों की अपेक्षा अधिक रुचते हैं। छायावाद की शक्तिहीन काया में एक क्षुद्र हिपोक्रेसी (बनावटीपन) का जैसा उद्दाम स्वरूप दृष्टिगोचर हुआ उससे तुलना करने पर प्रगतिशील कविता की संकल्प-पूरक निष्ठा-शीलता का ओज भले हमारे रूढ़िवादी वातावरण में जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति का स्वप्न देखनेवाले आलोचकों को कुछ अनगढ़ और अविचारयुक्त दीखे परन्तु भावी युग उसी में अपनी शक्ति का व्यक्तीकरण देखेगा। यहाँ उन फैशनेबिल प्रगतिशीलता के हामियों, मार्क्सवाद की विवेचनायें घोंटकर कादम्बरी की-सी भाषा लिखनेवाले

और सर्वहारा को अपनी बौद्धिक (अर्थात् फीलिंग से रहित) सहानुभूति देनेवाले स्यूडो रोमान्टिक पन्त एवं निराला जैसे प्रवृत्ति से ही प्रगतिशील या रामविलास शर्मा जैसे अपेक्षाकृत नवीन परन्तु अधिक स्फूर्ति और चिन्तनसामग्री देनेवाले कवियों की तुलनात्मक समीक्षा से मेरा कथन अधिक स्पष्ठ हो सकेगा। जिन कवियों की सामाजिक दार्शनिकता और वर्ग चेतना केवल विदेशों से आने वाली किताबों के अध्ययन से उद्भूत हुई है और आधुनिक अमेरिकन और अँगरेजी कवियों की 'डल इमेजेरीज़' और टुकड़ेबाजी से प्रकाशित जिनका काव्य केवल जुगनू की सी चमक फेंकता है वे 'निराला' के चिर द्रोही प्रगतिवाद और 'नवीन' की 'जगपति का टेंटुआ घोटने वाली' महागति को कैसे स्वीकार करेंगे ? टी० एस० इलियट, इज़रा पाउण्ड, डब्लू० एच० ऑडन, आर्कीबाल्ड मेकनीश और ई० ई० कमिंग की शाब्दिक कारीगरी पर अपने कौशल का निर्माण करने वाले ये कवि विद्वान होने के नाते दुनिया के तर्कों को ज्यादा अच्छा भले ही समझ लेते हों परन्तु उनका टेकनीक और कलात्मक विचित्रता-मंडित अभिव्यक्ति हमारे लिए अपरिचित ही है। एक ओर तो हमारे यहाँ ऐसे ही प्रगतिशील कवियों का दल है जो इलियट, पाउण्ड और कमिंग की खपित शाब्दिक गति और आधुनिकतम अमेरिकन कवियों के सिनेमावाले 'क्लोज़अप' और 'फेड आउट' देते हैं। अपना कोई निश्चित आदर्शवाद न होने और सजीव सामाजिक वातावरण से अलग होने के कारण ये कवि जैसे इलियट कथित हालोमैन के देश में निवास करते हैं, जहाँ दिमाग में कूड़ा रखनेवाले, लकवाग्रस्त और अपाहिज ही रहते हैं। पन्तजी की ऊँची और संस्कृत शैली और शब्दों से बोझिल कवितायें जिनमें कहीं-कहीं इलियट के से प्रतीक रहते हैं स्वनिर्मित आभिजात्य की नागरिक संस्कृत और एक जमी हुई

सामन्तशाही व्यवस्था के भ्रम और तज्जनित द्वंद का विरोधाभास प्रकट करती है। कभी कभी तो उनमें एक विचित्र हास्यास्पदता का विकार भी पैदा हो जाता है। लगता है जैसे वे बुरा और दूषित गद्य लिख रहे हैं और मानों जो देखते हैं उस पर उपहासपूर्वक हँस रहे हैं। कभी-कभी पन्तजी और उनके ढंग पर सोचनेवाले कवियों की कविता पढ़कर लगता है जैसे ये कवि अपने और जनता के— उस जनता के जो मेरे और मेरे मित्रों जैसे लोगों से मिलकर बनी है—कोई सामंजस्य नहीं स्थापित कर सके। वे एक अपनी ही ऐकान्तिक गुप्त दुनिया में और अपने जैसे दिमागवाले आलोचकों की परिधि में रहते हैं और ये आलोचक उन्हें वह सर्वजनीन साहचर्य स्थापित नहीं करने देते। ये आलोचक इन कवियों की जटिलता और 'ग्राडिटीज़' (विलक्षणताओं) की प्रशंसा करते नहीं थकते। नतीजा यह होता है कि कवियों के लिए वास्तविक जगत का द्वार बन्द हो जाता है और एक साहित्यिक inbreeding के किस्म की चीज़ शुरू हो जाती है। यहाँ पन्तजी का ज़िक्र इसलिए करना और आवश्यक हो गया है कि हम सब उनके साथ आगे बढ़े हैं, एक अरसे तक वे हमारे रहनुमा रह चुके हैं और उनके नेतृत्व में हमने द्विवेदी युग की शक्तिहीन, प्राणहीन और रुचिहीन काव्य-धारा को त्यागकर एक नूतन युग का द्वार खोला।

कुछ नवीन और सशक्त कवि भी हमारे यहाँ हैं जो स्वभाव से रोमांटिक तथा भाग्यवादी हैं, जिनकी गीति-काव्यात्मकता में एक स्वस्थ्य ताज़गी है परन्तु जिनकी यथार्थ और मूर्त सामाजिक चेतना की कमी और आर्थिक मूलाधारों की अनभिज्ञता अक्सर उन्हें रोगग्रस्त रोमान्स के गन्दे गढ़े में पटक देती है। आज उनमें से अधिकांश ने करवट बदली है और मार्क्सवादी कवि हो गये हैं। उनमें कुछ खामियाँ हो सकती हैं परन्तु यह दृढ सत्य है कि उनमें यह चिन्ताधारा किसी प्रति-

क्रिया के रूप में नहीं आई। वे तो युग की माँग पहचानकर और लड़-खड़ाती दुनिया को उसके नग्न स्वरूप में देखकर मार्क्स के समाज दर्शन की ओर झुके हैं। एक मुश्किल आलोचकों ने भी पैदा कर दी है। वे यह भूल जाते हैं कि कविता विकासित होती है और उसी के साथ आलोचना भी। साथ ही वे मार्क्सवादी कवियों की उसी ढंग से आलोचना करते हैं और उनकी कविता पर अपना निर्णय दे देते हैं जैसे अक्सर वे साम्यवाद के विरुद्ध बहस करते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि क्या वे वर्गवाद की 'प्रेमिसेज' को ठीक या ग़लत समझते हैं। प्रश्न तो यह है कि साम्यवाद की ये 'प्रेमिसेज' वास्तविक कटु तथ्यों से लगाव रखती हैं या नहीं। ये आलोचक भूल जाते हैं कि कुछ कुरूप राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और आचारिक वास्तविकताएँ हैं जो साहित्यिक आदर्शवाद के बाहरी संसार से अधिक ठोस और टिकाऊ हैं। हमारे आलोचकों को जिन पर प्रत्येक देश और युग में अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण और उन्हें सही-सही समझाने का भार रहता है देखना यह चाहिये कि इन कवियों का साम्यवादी कहा जानेवाला दृष्टिकोण हमारे वर्तमान जीवन को आज ज्यादा गहराई, तल्लनिष्ठता और प्राण-प्रतिष्ठा के साथ छूता है या नहीं और उसके बुनियादी उपकरणों के समझने में हमें दूर तक ले जाता है या नहीं। सीधे सादे शब्दों में उनकी कृतियों में साहित्य जीवन के अधिक से अधिक निकट आता है या नहीं। यही वह सच्ची तत्त्वशीलता है जिसका विकासोन्मुख स्वरूप हमें साहित्य में दिखना चाहिये। यही प्रगति है।

साम्यवादी होने के नाते हमारे ये कवि भौतिकतावादी हैं और उनके कुछ विश्वास हैं। वे वर्तमान से मुँह नहीं मोड़ते ताकि वे भविष्य में भी जीवित रह सकें। वे यह भी जानते और मानते हैं कि वे

यथार्थता की एक उद्देश्यपूर्ण जगती में चलते फिरते हैं। बाधाएँ उत्पन्न करनेवाली और अपने प्राणियों को मानसिक और शारीरिक निर्यातन देनेवाली दुनिया में नहीं। रामविलास शर्मा, दिनकर, उदयशंकर भट्ट, सुरेन्द्र बालूपुरी, सुमन, विनोद और प्रभागचन्द्र की कुछ कविताओं में यह चेतना औरों से अधिक है। क्या ही अच्छा हो यदि बच्चन जैसे गम्भीर अतल-स्पर्शी और एक अजीव शान्ति के साथ अपने भावावेगों की गहराई तक सीधे पहुँच जानेवाले कवि भी इसी रुख को ग्रहण करें। आखिर अपने भीतर के खोखलेपन को कुरेदने की एक हद होती है। सजीव प्रतीकों और छायाओं का निर्माण करनेवाले और उन्हें सुसंतुलित शब्दों में बिठानेवाले उपरोक्त कवियों की गढ़ी हुई आकृतियाँ दीवारों पर लटकाई जानेवाली जड़ तस्वीरों की तरह नहीं होती। बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि यही प्रगतिशील कवि हैं जिनके प्रतीक और सत्तात्मक सृजन जाति और जीवन के इतिहास के चित्र हैं। रामविलास शर्मा में शब्दों का नाद न होते हुए भी पुष्ट विचारों का धाराप्रवाह है जो तीव्र है। हिन्दी भाषी प्रान्तों की सामाजिक शक्तियों का विश्लेषण करने का जो प्रयास मैंने किया है उसमें यही कुछ कवि उस कालम में आते हैं जिसने पूरे-पूरे तौर पर 'जनता' के साथ अपने को खपा दिया है। जनता से यहाँ मेरा तात्पर्य मज़दूरों, किसानों और मध्यवर्ग के बेकारों से है। यही तीनों वर्ग सच्चे अर्थों में क्रान्ति के उपकरण हैं। साथ ही इन कवियों के पेश किये चित्र केवल हिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों के ही नहीं वरन् सारे हिन्दुस्तान और संसार की पीड़ित शोषित सर्वहारा के हैं। मार्क्सवादी कलाकार होने के नाते ऐसा करने का उन्हें प्रत्येक अधिकार है क्योंकि वे केवल अपने देश के ही नहीं वरन् अपने समय के सर्वदेशीय जन-जीवन के दुःख-सुख और उसकी प्रभापूर्ण जाग्रति के गायक हैं।

मार्क्सवादी कवियों में जो अधिक तरुण हैं वे अभी जीवन की इन कालो और गन्दी विषमताओं के भीतर नहीं घुसे और धुले। वे अभी सतह पर ही तैरते हैं। वे उत्तेजित होते हैं—खीझते हैं और पूँजीवादी वर्गों का तीखे व्यंग और जिदभरी कुढ़न और चिढ़न के साथ चित्रण करते हैं। वे अभी अपने रुख को ठीक ठीक समझ नहीं सके। कवि की जो एक सधी हुई आन्तरिक ज्वाला होती है—आत्मा का जो एक संघर्ष होता है और ठंडा कस्मोपोलिटन दृष्टिकोण होता है वह वे अभी विकसित नहीं कर पाये।

यहाँ सीमित स्थान में हिन्दी के सभी प्रगतिशील कवियों का मैं ज़िक्र नहीं कर सका। परन्तु मैंने आलोचना की एक लाइन निर्मित करने का यत्न किया है। आज की हिन्दी की प्रगतिशील कविता में जो अर्थ और व्यर्थ है दोनों को दिखाने और समझाने का मैंने ध्येय रक्खा है। मेरी कुछ स्वतंत्र साहित्यिक रुचियाँ और धारणायें हैं। मैं भी उन नये अधकचरे परन्तु स्वस्थ्य नवयुवकों में हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि साहित्य पीछे है, मानवता पहले। साहित्य मानवीय मूल्यों (human values) पर ज़ोर देता है और जीवन की व्याख्या और आलोचना पेश करता है। आज केवल समाजवादी साहित्य ही जीवन को अधिकाधिक निकट से देखता और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर ज़ोर देता है। वही सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है और स्वभावतः उसके लिए मेरे मन में झुकाव है—रुझान है। मैं देखता हूँ एक नवीन हृदय-धर्म और बुद्धि-धर्म चलाकर, व्यक्ति के अहम् को विश्व के जागरण का रूप देकर वह अपनी एक दृष्टि निश्चित कर चुका है और उसी का विनियोग जीवन के अंग-प्रत्यंग में करा के वह एक नवीन मानवता का निर्माण कर रहा है। जीवन के बौद्धिक दमन और दानवीय शोषण के फल स्वरूप समाज की

तह से लेकर ढक्कन तक घुमड़ने और उमसनेवाला विद्रोही असन्तोष और उग्र से उग्रतर होती हुई अतृप्ति जिन्हें लेकर हम चल रहे हैं आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों अपनी लपटों के प्रज्वलन से वर्तमान आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और तथाकथित सांस्कृतिक व्यवस्था को भस्म करेंगे। महापरिवर्तन और चैतन्य के सर्वरूप-दर्शन की उन मंगलमयी घड़ियों को लाने के जो यत्न हो रहे हैं उनके साथ आज के कवि भी हैं।

हिन्दी कविता और उसके क्रमिक विकास यानी छायावाद और उसके बाद के काव्य रूपों पर मैंने जो कुछ कहा है उसमें पाठकों को एक वर्ग झुकाव मिलेगा। परन्तु मैं विवश हूं। मैं मानता हूँ कि साहित्य तथा जीवन दोनों की आलोचना इस झुकाव के बिना रक्त-मांस-हीन ही क्या निस्पन्द हो जाती है।

हमारे आलोचक

आलोचना रहस्य और उलझन की सृष्टि न करके यथार्थ को जन्म देती है। मानवता कला और साहित्य की ऊँची और हो सके तो सर्वकालीन और सर्वदेशीय मान्यताओं के दृढ़ पहलू की वह जीवित प्रतीक कही जा सकती है। अतीत की घिसी और जर्जरित परिष्कृतियों को ठुकराकर वह नूतन और प्रगति की प्राण-प्रतिष्ठा करती है। किसी भी प्रगतिशील साहित्य की आलोचना के इतिहास को देखकर यह बात समझी जा सकती है कि वह साहित्य की भाँति ही मानवीय संस्कार पर ज़ोर देती है और केवल छायात्मक सौन्दर्य निर्देशों पर अपनी सारी शक्ति नहीं केन्द्रित कर देती। जीवन और जागृति के विशाल क्षितिज उसके सम्मुख खुलते हैं और सबके जीवित रहने और सुखपूर्वक जीवित रहने का मूलमन्त्र साहित्य के भीतर से मिलने की उसकी माँग होती है। इसलिए कोई भी कलाकार चाहे वह जितने अतुलनीय ढंग से अवास्तविकता को जन्म देता हो कभी आलोचना द्वारा अपने गलत ढंग पर आगे बढ़ने के लिए उत्साहित नहीं किया जाता। आज भी आलोचना का मनुष्य के सामाजिक, सांस्कृतिक (संकीर्ण अर्थ में minority culture नहीं) एवं बौद्धिक विकास और परिष्कार और साहित्य के इस उद्देश्य की पूर्ति की माँग में एक ऊँचा और गम्भीर कार्य-क्रम है। परन्तु छायावादी कविता की उन्नति के साथ-साथ एक छायावादी आलोचना की लाइन हमारे यहाँ बनी जो एक हलचल-

पूर्ण घटना होते हुए भी एक पैराडाक्स, अनबूझ और दूरूह बनी रही। सृजन की प्रेरणा देते हुए भी उसने मानवीय उत्क्रान्ति पर ज़ोर नहीं दिया वरन उसे सामने से हटाये रखा। वैज्ञानिक होने के नाते भावनावाद की अतिशयता का उसने खुलकर विरोध नहीं किया। कारण उन आलोचकों का अस्तित्व ही भावनावादी शब्दों, वाक्यजालों और वर्णनों में सुरक्षित था। मानवता से जो एक सामूहिक बोध का संकेत होता है उससे वह बचती रही और इसीलिए छायावादी कविता की भाँति वह भी मानववादिनी नहीं हो पाई। यह मानते हुए भी कि जीवन भावनाओं से पृथक् नहीं है वह संपूर्ण में भावना और केवल भावना नहीं है। फिर वह भावना जो वाणी में शक्ति, तीव्रता और लक्ष्य-बोध की प्रखरता नहीं देती— जो अतीत के साथ लिपटी रहकर भी वर्तमान विश्व की अटूट और अखंड विषमताओं के युद्ध को जीतने की आस्था नहीं उत्पन्न करती, बेमानी है—जीवन से भगाव है।

तो आलोचना से प्रत्येक प्रगतिशील साहित्य यह माँग करता है कि वह नये-नये मान दे और जीवन की समस्याओं के प्रति (यहाँ आध्यात्मिक समस्याओं से मतलब नहीं क्योंकि वे जीवन की समस्यायें नहीं जीवन में निषेध का प्रचार हैं) नित्य नई सुलझन से पूर्ण दृष्टि-कोण उपस्थित करे, इन्हीं कसौटियों पर साहित्य को कसे और नवीन प्रतिभा को भविष्य की अपरिमित संभावनाओं के स्रोत की ओर उन्मुख करे। विपरीत इसके जो आलोचना साहित्य और कला-आन्दोलनों में आते हुए संघर्ष को तीव्र और तिरस्कार-भेदी दृष्टि से देखती है और जीवन की प्रत्येक राह को साहित्य के लिए खुली नहीं मानती वह गलत है और जीवन के प्रति उसकी सारी समीपता कठमुल्लापन की ही परि-चायक है। इसलिए जागरूक जीवन और प्रगतिशील साहित्य की भाँति

आलोचना का भी एक मिशन और विज़न होता है। साथ ही वह मौलिकता में भी एक स्टैण्डर्ड की रक्षा करती है। शेक्सपियर के एक आलोचक ने लिखा है। 'He is more original than his originals' आलोचना भी शायद अपने में मौलिकता का यही मापदण्ड रखती है।

यदि हम विषय और वस्तु की बात जानें दें तो भी प्रवाहवान साहित्य में व्यक्तीकरण के ढंग और स्वरूप बदलते रहते हैं। भारतेन्दु-कालीन कविता से द्विवेदी-कालीन कविता तक हम यह परिवर्तन स्पष्ट देख लेते हैं। द्विवेदी-काल से आगे बढ़ने पर छायावादी युग तक आते-आते तो काफ़ी बड़ा परिवर्तन हो जाता है—रेखाओं, रंगों और परिणति तीनों में और उसके आगे बढ़कर जब कविता यथार्थ की ओर उन्मुख हुई तो कला के मान और अभिव्यंजना शैली दोनों बदलीं। और आज जब व्यक्तिवाद और अहंवाद के दायरे से निकलकर हिन्दी कविता बहिर्ज्योति के प्रकाश और कर्मण्यता की कठोर दुनियां में आ गई है—भट्टजी की रिफ्यूज़ी या रामविलास शर्मा की कुछ कविताओं तक—और कविता में जीवन की अनिश्चितता, अस्थिरता और अव्यवस्था, असंगति, कशमकश का सच्चा खाका खिंचने लगा है—उस जीवन के चटकीले रंगों में जिसे पूँजीवाद के रक्त-स्नात पंजों में जकड़ा हुआ आज का जन-साधारण जी रहा है, उस समय अलङ्कारों के पाण्डित्य, finer graces के शृङ्गार और अन्य छायावादी मानों पर उसे कैसे कसा जा सकता है। इससे इतर छायावादी आलोचना शैली जो छायावादी कविता की भाँति अपनी मौत आप ही मर रही है, कैसे उस कविता को परख सकेगी। जो रहस्यवाद और जीवन से मुखमोड़ की प्रवृत्ति को ठुकराकर जाति, व्यक्ति और समाज के मूलगत जीवन को देखने का यत्न कर रही है।

और मनुष्यता की कल्याणकारी भावनाओं की प्रतिष्ठा करती है! इस लिए जो आलोचक लारेन्स के एक पात्र बर्किन की तरह आलोचना में केवल home instinct (जो उसी के शब्दों में एक कायरता की प्रवृत्ति है) लेकर कविता की आलोचना करते हैं वे ग़लत हैं।

गुण-दोष ही आलोचना का अन्त नहीं है। जो आलोचना गुण-दोष-विवेचन से आगे बढ़कर रचयिता के मानस का विश्लेषण नहीं करती वह लगभग निःस्सार है। कविता मानस में इच्छा के उदय की प्रतिक्रिया होती है और उस इच्छा की पूर्ति का जो स्वरूप कवि सामने रखता है वह प्रकारान्तर से बलप्रद—स्फूर्तिपूर्ण है या नकारात्मक और ठंढा करनेवाला – यह एक आवश्यक समीक्षा है। यह हिन्दी के सारसमृद्ध कवियों का दुर्भाग्य ही है कि उनके आलोचक अब भी 'हिट' में घुसने की चेष्टा नहीं करते—प्रायः कम ही करते हैं –दो तीन को छोड़कर। वे अपनी लफ़्फ़ाज़ी और ऊहापोह में ही तन्मय हो जाते हैं। नाम लेना यहाँ अभीष्ट नहीं है। परन्तु इसे हिन्दी कविता का दुर्भाग्य तो कहा ही जायगा। बारम्बार जिस आलोचना से पाठक रचना के आगे रचयिता के मानस की गठन, उसके विश्वासों और बुद्धि-बोधों की गहराई और दृढ़ता का अन्दाज़ न लगा सके—उसकी मानसिक शक्ति और तेज की माप न कर सके—वह क्या अर्थ रखती है!

आलोचना में नये मूल्यांकन की माँग आज नई नहीं है। कविता में समय-समय पर जो नये-नये प्रवाह और धारायें आती हैं, वे नई-नई चेतनाएँ और जीवन एवं जगत के प्रति एक तीखी सप्रश्नता लाती हैं। मानव अस्तित्व के संघर्ष का प्रश्न जिनमें व्यक्त होता है—ज्ञान की उन्हीं क्रियाओं को लेकर आज हमारी चिन्ताधाराएँ चल रही हैं। जब मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष था उस समय भी काव्य सर्वसाधारण

के जीवन के साथ विजड़ित था। उस समय के नृत्य और काव्यगीतों में उसका स्पष्ट स्वर सुन पड़ता है। मानव और प्रकृति के उस आदिकाल के संघर्ष के जो प्रतिबिम्ब विश्व-काव्य में पड़े वे आज भी धुँधले नहीं हुए। आधुनिक वाणिज्य-युग के पहले तक कविता और जनता का यह सम्पर्क बना रहा। परन्तु बाद में कविता की अवनति होती गई। ऐसी दशा में आलोचक का क्या यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि वह कविता के पुनर्जीवन की समस्या साहित्य में उत्पन्न करें? यन्त्र-युग में कवि और पाठकों का योग न रहने से जो कवियों की छन्द-शैली सूक्ष्म से सूक्ष्म और जटिल से जटिल होती गई उससे त्राण दिलावे! आज सभी भाषाओं में काव्य की ऐसी ही गति क्या नहीं है! छन्द की सहज सचेतनता चली जाने से जो गद्यकविता की ओर अत्यधिक झुकाव हो चला है यह क्या साधारण पाठक को कविता से और दूर नहीं खींच ले जाता! तो क्या आलोचक का यह कर्तव्य नहीं है कि जनसाधारण की अवज्ञा के प्रति अभिमानी और स्वभाव से अहंवादी कवि की इस प्रतिक्रिया को नूतन ऊर्जस्वित रूप देने पर विवश करे! जिन थोड़े से शब्दों से घिरी आज की कविता चल रही है और वर्तमान जीवन से ऊब कर मुरदा विद्रोही स्वर में जैसे उत्पीड़न और शोषण के प्रति रोष और कभी-कभी उसके शिकारों के प्रति सहानुभूति के गीत गाये जा रहे हैं उनमें कब कहाँ से क्रान्ति के उपादानों का संगठन होगा यह तो आलोचक को ही बताना पड़ेगा। यह सब क्या हिन्दी में हो रहा है!

हमारे आलोचकों ने हमारा उपकार कम, अपकार ही अधिक किया है। पूँजीवाद ने जहाँ एक ओर हमारे राजनैतिक जीवन को विकृत कर दिया है, वहां साहित्य में भी हमें ईमानदारी और सचाई से वंचित कर दिया है। यह सत्य है कि कवि एकदम अनुभूति और भावना में नहीं

रहता। आज वह नारी के प्रति आसक्ति के गीत गाता है—तो कल सरमायादारी के ख़िलाफ़ विद्रोह का झंडा भी खड़ा कर सकता है —करता है। परन्तु हमारी आलोचना में केवल कला और साहित्य के—कविता के केवल उसी अंग विशेष का 'नोटिस' लिया जाता है जिसमें कुलपतिशाही के गीत गाये जाते हैं। मानव सम्बन्धों को नए सिरे पर क़ायम करनेवाली जो कविता आ रही है उसे कब देखा जाता है? समाजवादी निर्माणकार्य के उत्साह की जो रचनात्मक ग्रहणशीलता है वह कविता में आ गई, पर आलोचना में अभी कहाँ आई।

यही नहीं इतने वैचारिक और सैद्धान्तिक मुग़ालतों की सृष्टि की जाती है कि वस्तु और उसकी शक्तियों की ओर दृष्टि ही नहीं जाती। आलोचना के लिए कविता का ऐतिहासिक पहलू लेना तो दूर रहा उसे सामजिक उन्नति का मानवीय तरीका और सामाजिक संघर्षों या आशाओं और उनकी पूर्ति और असफलताओं की अभिव्यक्ति एवं सामाजिक प्रयोगों के नये उपायों के—जनजागृति के सर्वजनीन प्रयत्नों का गायन और अवलोकन भी नहीं मानती। यहीं पर इतिहास का दृष्टि-कोण खो जाता है। मार्क्सवाद का विद्यार्थी यहाँ भी एक नया शिक्षक और रहनुमा साबित होता है। कविता आखिर जीवन की गति का चित्र, उसकी प्रगति का आकलन और मानव की विजय का मधुर या कटु जैसा भी हो उचार है।

सामाजिक राजनैतिक प्रतिबन्ध और कवि

——:o:

आधुनिक सभ्यता जटिल समस्याओं से भरी पड़ी है। कवि एक सामाजिक प्राणी है। उसे भी समाज में रहना है और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों की पूर्ति करनी है। श्रेष्ठ काव्य की कसौटी यही रही है कि वह शृंखलित मानव की स्वाधीनता का चरम आदर्श स्थापित करे—जीवन के भीतर से बोलकर और उठकर। युग-युग से उसके सम्मुख नूतन मानवता की सृष्टि का कार्य रहता आया है। धर्म, समाज, प्रचलित रीति-नीति और आचार-विचार के नाम पर कपट की कला और निष्ठुरता आज समाज के स्तर-स्तर में व्याप्त हो गई है। उसके भुलावे में आज कोटि-कोटि मनुष्य मोहग्रस्त हो क्रीतदासवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं या ऐसा करने के लिए विवश किये जा रहे हैं। कवि भी चूँकि उन्हीं में जन्म पाता है—उन्हीं के टुकड़ों पर पलता है इसलिए उसके संस्कारों के निर्माण में इन परिस्थितियों का बड़ा भाग रहता है। होश आते ही और अपनी बुद्धि में एक स्वातंत्र्य चेतना का उदय होते ही वह अतीत के विलास कक्ष को चीरकर वर्तमान के कोलाहलपूर्ण प्राँगण में आकर खड़ा हो जाता है। उसकी यही क्रिया उसका व्यक्तित्व है जो उसे अन्य मानवों से पृथक करती है। उसकी आत्मा उन मध्यकालीन या अन्धकार कालीन मान्यताओं के प्रति विद्रोह करती है। उसे

ज्ञात होता है जीवन अस्तित्व से अधिक कर्म है, सौन्दर्य से अधिक कुरूपता और स्वप्न से अधिक सत्य। उस समय तक कवि ने पर्याप्त इच्छा-शक्ति और संकल्पात्मक दृढ़ता यदि विकसित कर ली है तो वह अपना गन्तव्य पा लेगा।

देखने में यह आ रहा है कि कवि अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट न कर भैरवी और प्रलयवीणा बजाते हैं और पाठकों के पास एक स्वस्थ्य वैचारिक दृष्टिकोण न होने के कारण वे उनकी स्वर विभीषिका को सची और ईमानदारी की चीज़ समझकर स्वीकार भी कर लेते हैं। सामाजिक प्रतिबन्धों को रोकने के लिए क्या संगठित प्रयत्न होने चाहिये यह कहना कुछ मुशकिल सा है। इस प्रकार के प्रयत्नों का अधिक से अधिक संगठित रूप समाज में एक नूतन चेतना और कलापरक दृष्टि का प्रसार करना ही माना जा सकता है। दूसरी ओर यदि उनके विचार वर्तमान सामाजिक मान्यताओं के संघर्ष में आते हैं और समाज में प्रतिक्रियावादी शक्तियों का प्राबल्य होने के कारण उनकी रचनाएँ पत्रों में नहीं छप सकतीं या उन्हें अनुत्साहित किया जाता है तो उसके लिए संगठित उपाय यही हो सकता है कि उनके अपने पत्र हों—अपनी संस्थाएँ और समितियाँ हों जो उनकी चीज़ों को प्रकाश में लावें और उपयुक्त रूप से जनता के सामने रक्खें। समाज का जो वर्ग आज चाहता है कि उसके वे स्वार्थ सुरक्षित रहें जिनके नष्ट होते ही उसका जीवन उल्लास नष्ट हो जायगा वे तो सदैव नई पीढ़ी के तरुण लेखकों से मोर्चा लेने का यत्न करेंगे ही। आज उनके हाथ में शक्ति होने से वे हमें नुकसान भी पहुँचा सकते हैं। परन्तु हमारे और हमारे विरोधी कैम्प के बीच में जो एक बड़ा वर्ग पड़ा है वह है जनता। वह हमारी नियत देखेगी—हमारी चीज़ देखेगी—हमारे व्रत और आत्मत्याग—कष्ट सहन

और अपने ध्येय के प्रति जागरूकता की निर्णायक बनेगी। अपनी दमित इच्छा और स्वरत अहंकार का प्रदर्शन अपनी कृतियों में करनेवाले लेखकों के मुकाबले वह हमारी निपीड़न, पददलन और सर्वस्वहरण से मुक्ति दिलाने वाली कृतियों को नहीं समझेगी और नहीं अपनावेगी, ऐसा मानने को मैं तैयार नहीं। हाँ! इसमें समय लगेगा और उनकी आँखों के सामने यह जो चिरजीवी कला और सौन्दर्य, आध्यात्म और नैतिकता का स्वर्ण जाल बिछा दिया गया है उसी के कटने की देर है। हमें यदि संगठित होना है तो इसीलिए कि हम जनता की सुषुप्त चेतना को जगावें और उनके दिल-दिमाग को अन्धविश्वासों, कुसंस्कारों और साहित्य एवं कला के झूठे आकर्षणों से मुक्त करें। उन्हें यह समझावें कि कला या विज्ञान कोई अपने में ही लक्ष्य नहीं है। उनका मूल्य जीवन से उनके सम्बन्ध में ही है। समाज स्वातंत्र्य एवं समाज विकास ही उनका लक्ष्य है।

राजनैतिक प्रतिबन्ध आज ज्यादा उग्र और अवरोधात्मक हैं। जिन देशों में फैशिज्म का शासन-तंत्र है वहाँ तो राजनैतिक प्रतिबन्धों ने कलाकार को एक नपे-तुले 'पैटर्न' पर स्थिर कर दिया है। भारत में भी कलाकारों के सामने प्रायः यही अवस्था झूला करती है। इन राजनैतिक प्रतिबन्धों के कारण कवि अपने विचारों के वर्णन और विकीरण में उतना उग्र नहीं हो पाता जितना वह होना चाहता है। लेकिन किसी भी देश की सरकार जो सबके सुख, समानता, शोषणान्त की भित्ति पर स्थापित नहीं है और जो आर्थिक वैषम्य पर आधारित है अपनी दमन नीति के दौरान में कभी भी उन लेखकों और कवियों को छोड़ ही कैसे सकती है जो 'अपने चारों ओर के शोषण और दमन, नृशंसता और हिंसा की ओर आँखें खोलकर चलते हैं।' उनके लिए प्रत्येक युग, काल और देश में राजनैतिक प्रतिबन्ध रहे हैं और रहेंगे। संगठित

उपाय यही हो सकता है कि ऐसे प्रतिबन्धों के उठाये जाने के लिए सक्रिय और सवेग आन्दोलन किये जाँय। साथ ही लेखक और कला-कार—कवि नामधारी प्राणियों पर जब जीवन की नींव हिला देनेवाले यथार्थ के कड़े प्रहार होंगे तभी वे स्थिति की विकरालता और अपने कर्तव्य को समझेंगे। संगठित उपाय किये जा सकते हैं। प्रगतिशील साहित्य आन्दोलन को अधिक-से-अधिक शक्तिशाली और व्यापक बनाकर। अधिक-से-अधिक उसकी शाखाएँ और समितियाँ खोल खोलकर कलियुग तो यह है ही जब संघ में शक्ति मानी गई है। आज यदि हम संगठित होंगे तो हमारी शक्ति पर्याप्त होगी और यदि एक आवाज़, एक ध्येय, एक गति और एक रूप होकर हम आगे बढ़ेंगे तो कितने ही सामाजिक और राजनैतिक प्रतिबन्ध आप-से-आप ढीले पड़ जायँगे। आवश्यकता है आत्मोत्सर्ग को सामने रखकर आत्म-गठन की—आत्म-विकास और आत्म-दान की।

किसी भी कारण से यह संगठन यदि और जब तक नहीं हो पाता तो मेरी यह मान्यता है (भले ही समाजवाद की मूलगत धारा से वह थोड़ी-सी बेमेल हो) कि व्यक्तिगत रूप से भी सच्चा कवि सामाजिक और राजनैतिक प्रतिबन्धों के आगे नहीं झुकेगा। साहित्य के इतिहास में उसने सदैव अपना मस्तक ऊँचा करके शासन और समाज की ज्यादतियों को झेला है और अपने ध्रुव पर अटल रहा है। फिर आज तो उसके पास बड़े-बड़े सम्बल हैं। आज तो मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को समझकर वह अपने व्यक्तिगत कष्ट-सहन और संघर्ष को उसके उचित स्वरूप में देख लेता है कि वह सामाजिक परि-वर्तन की विराट क्रिया का ही एक हिस्सा है। यही कारण है कि वह अपनी वेदनाओं को ऐसे ढंग से सामने रक्खेगा कि मानव द्वारा मानव

के शोषण के लिए कला का इस्तेमाल असंभव हो जायगा। आज उसके पीछे उस विश्वास की नींव है जो उसे उस शब्दावली या विचारावली (आदर्शवादी या रहस्यवादी) से दूर-दूर रक्खे जो संघर्ष की यथार्थता से पलायन की वृत्ति के अर्थ में परिणत हो सकती है। मानवीयता के इतिहास में आज पहली बार कवि को यह बल प्राप्त हुआ है कि युग-युग के विराट मानवता के स्वप्न को वह सफल कर सके—उस सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप के भीतर से जहाँ शोषण नहीं—रक्तपात नहीं—जहाँ मानवता एक होकर भाई-चारे और साथी-चारे के जोश में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ेगी। इसलिए आज तो कवि को और डटकर प्रतिक्रियावादी शक्तियों का सामना करना है। आज तो उसे अपने साहित्य में भी उस जीवन का चित्रण करना है जो गति है अर्थात् जो प्रति पग पर स्वयं अपना या अपने में उठनेवाली प्रतिक्रिया का विरोध करता चलता है। जब तक उस पर समाज-सत्ता और राज-सत्ता के वार नहीं होंगे तब तक उसके अन्दर की ज्व. ।। कैसे भड़केगी।

इन प्रतिबन्धों के बावजूद और जब तक उनके संगठित संघ स्थापित नहीं होते तब तक और उसके बाद भी कवि या लेखक में व्यक्तिगत पौरुष और बल की अपेक्षा तो रहेगी ही और मैं मानता हूँ कि इस व्यक्तिगत शक्ति, साहस, शौर्य और पराक्रम के सामने सामाजिक बन्धन तो आप-से-आप हट ही जायँगे, राजनैतिक बन्धन भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो जायँगे। वाल्ट ह्विटमैन ने लिखा है :

> I am for those that have never been
> mastered
> For men and women whose tempers have
> never been mastered

For those whom laws, theories and conventions can never master.

रोमाँ रोलाँ के शब्दों में It is hard epoch, it is cruel, but it is beautiful to be strong. मैं यह भी मानता हूँ कि बल सदैव आदमी की वेदना और विश्वास से आता है। ऐसा कवि मुहूर्त भर लपककर बुझ जाना चाहेगा बनिस्बत चिरकाल तक धुँआ देने के।

राजनैतिक प्रतिबन्धों से बचने के लिए कोई भी और कितने भी संगठित उपाय किये जायँ परन्तु जो सच्चे अर्थ में प्रगतिशील साहित्यकार है वह कभी उसके अंजामों से मुक्त नहीं हो सकता—जब तक उसमें आदर्श-स्थापना की ज्वाला है। ये राजनैतिक (और सामाजिक) प्रतिबन्ध तभी उठ सकते हैं—सदा के लिए—जब संसार से साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और फेशिज्म का नाश हो जाय! इन प्रतिबन्धों के मूल में कलाकार की स्वातन्त्र्य-प्रिय वृत्ति को पराजित करने की भावना होती है। जो भी कलाकार या कवि जब कभी उनकी व्यवस्था के साथ सहयोग करने से इन्कार करेगा तभी वह इन प्रतिबन्धों का शिकार होगा। इसलिए मेरा ख्याल है कि कवियों के संगठित होने पर भी प्रतिबन्धों का नियंत्रण उन पर कम नहीं होगा—इतना अवश्य है कि हमारा एक जबर्दस्त front तैयार हो जायगा जो साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक सरमायादारी का नाश करेगा। संगठित प्रयत्न से मतलब भी शायद यही होता है। यों परतंत्र देश और जनता के लिए 'शा' के ये शब्द तो हैं ही :

A conquered nation is like a man with cancer. He can think of nothing else and is forced to place himself to the exclusion of

all better company in the hands of quacks who profess to treat or cure cancer. परन्तु यह दशा दूर होने में समय लगेगा और हमारे धैर्य की परीक्षा भी होगी। इतिहास की एक गति होती है जो किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। न जाने कितनी बार यह देखने में आया है और फिर कितनी जल्दी न आ जायगा।

ठीक है कि कवि कवि है। किन्तु पहले तो वह मनुष्य है। जब तक इस जीवन के पाशविक शोषण के सामने अपने नेत्रों को वह बन्द नहीं करेगा तब तक अपना यह ध्येय भी वह नहीं भूल सकता—समाजवादी व्यक्ति और व्यक्तिवादी समाज के बीच एक महान संघर्ष की कवि को अपनी प्रतिभा के अनुसार सृष्टि करनी है। फिर वह उन प्रतिबन्धों से कैसे दबेगा जो उसके हृदय के संवेदनों और द्रोह को वहीं घोट देना चाहते हैं। नहीं। वह उठेगा और भावी सृष्टि के निर्माण की ओर जो प्रगति है उसमें तन-मन-धन से जुट जायगा। वह साहित्य में अपना vis-a-vis वर्तमान परिस्थितियों का नग्न निरुपण करेगा। ये प्रतिबन्ध तब उसे कैसे छोड़ देंगे। लेकिन प्रतिबन्धों का निर्माता भी मानव ही है और मानव से संघर्ष करके वे टिक नहीं सकेंगे। अपने स्रष्टा से लड़कर वे स्वयं चूर-चूर हो जायँगे। कवि तो शान्ति चाहता ही नहीं तब तक जब तक यह शोषण और असम विभाजन हैं। जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के सम वितरण का वह आग्रही है। वह ज्वालामय है और संघर्ष का भूखा है। यही स्वाभाविक है और इसका अन्यथा कृत्रिम, अयथार्थ और मृत्यु। जैसा कालिदास ने रघुवंश में कहा है मानव (मनु की सन्तान) अपने वीर्य (पौरुष) से ही जीवित है।

प्रगतिवादी साहित्य और कला

यह कहना कि कला और समाज का अविच्छिन्न सम्बन्ध है कुछ न कहने के बराबर है। परन्तु यह कहना कि किसी विशेष समाज में कला उस समाज के अधिकारी वर्ग की रचना है और उसी वर्ग विशेष के उद्देश्यों की पूर्ति करती है एक निश्चित मत है भले ही वह सोलहो आने वैज्ञानिक न हो। कला को हम एक वर्ग विशेष के अस्त्र के रूप में अब तक देखते आये हैं। इस समय सारे संसार में दो पक्ष हैं—शोषक और शोषित। हमारे देश का सामाजिक प्रगति-क्रम आज ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है जहाँ हम समाज के दो मुख्य वर्गों, मेहनत करने वाले आम लोगों और विशेष अधिकार प्राप्त चन्द लोगों को अलग-अलग पहचान सकते हैं। दोनों के हितों का आपस में संघर्ष होता है। यह संघर्ष हमेशा मौजूद था। आज वह इतना साफ़ है कि हम उसे अनदेखा नहीं कर सकते। यह संघर्ष इतने महत्व का है कि यह हमारे सारे राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्य-क्रमों की कुञ्जी बनेगा। सामाजिक सन्तोष ही सच्चे प्रजातंत्र की पहली माँग होती है। प्रगतिवाद इसी सामाजिक सन्तोष के लिये आर्थिक और आचारिक आधार प्रस्तुत करता है।

हिन्दी के प्रत्येक लेखक और कवि के सामने प्रश्न है—वह किधर जाना चाहता है। प्रत्येक बुद्धिजीवी के सामने यह सवाल है—उसकी प्रवृत्तियाँ उसे किधर ले जा रही हैं। हिन्दी के साहित्यिक को जागरूक बनना पड़ेगा—उसे अपना पक्ष चुनना होगा। शोषितों का पक्ष—जनता का पक्ष—लोक पक्ष ही प्रगतिवाद है। दुनिया के किसी युग का कोई बड़ा कलाकार लोक पक्ष के विपरीत नहीं गया। आज दुनिया के प्रतिनिधि कलाकार इसी जन पक्ष से स्फूर्ति और प्रेरणा पा रहे हैं। जिस साहित्य का आधार और विस्तार बलिष्ठ जनतामयी लोक सत्तात्मक भावनाओं पर नहीं है वह राष्ट्र और संस्कृति के साथ मज़ाक है। आज दुनिया के प्रत्येक देश में बढ़ती भूखे कंगालों की सेना अधिक समय तक इस मज़ाक को, इस बौद्धिक शोषण को बरदाश्त नहीं करेगी। सभी देशों में कलाकारों ने शोषकों, साम्राज्यवादियों और फैसिस्टों के विरुद्ध लेखनी उठाई है। स्पेन की लड़ाई में यूरोप के बहुत से लेखकों ने कर्मक्षेत्र में पदार्पण किया। जनता का पक्ष ग्रहण करने के कारण कितने लेखक मारे गये—कितने कन्सेन्ट्रेशन केम्प में बन्द रहे। कितनों को देश निकाला हुआ।

प्रगतिवादी कला विलासिता या आलस बौद्धिकता की हिमायती नहीं है। वह दुर्धर्ष मानवता का विकासोन्मुख आदर्श-प्रेरित किन्तु यथार्थ जीवन दर्शन सामने रखती है। वह गुलामी अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करके स्वातंत्र्य, क्रान्ति और न्याय के लिये लड़ने की दीक्षा देती है। प्रगतिवादी कला में कला की मूलगत ऊँचाइयों और गहराइयों में अन्तर नहीं आता। हिन्दी के कुछ प्रगति विरोधी पेशेवर आलोचकों ने कला और चिरजीवी कला के नाम पर एक मुग़ालता खड़ा कर रक्खा है। अब वह मिटता जाता है। जनता यह

समझने लगी है कि जो साहित्य समाज की, जनता की स्वस्थ्य वृत्तियों पर अवलम्बित न होकर बौने व्यक्तियों के छिछले व्यक्तिवाद पर आधारित है वह एक वाणी विलास है—झूठी या काल्पनिक आध्यात्मिकता है। स्वस्थ्य भावनाओं का हेतु संयुक्त क्रांतिकारी सामाजिक दृष्टिकोण ही साहित्य का सच्चा दृष्टिकोण है। हम साहित्य में एक पराक्रमी उद्दत हेतुवाद की प्रतिष्ठा चाहते हैं। हिन्दी के सबसे बड़े गद्य लेखक प्रेमचन्द ने बराबर यही किया। आजीवन उन्होंने लोक भावना की महान परम्परा को आगे बढ़ाया और सामाजिक असंगतियों के विरुद्ध अपनी प्रबल आवाज़ उठाई। जीवन की वैसी सच्ची वैज्ञानिक आलोचना उनके बाद हमें न मिली। आत्मज्वाला और आत्म-विश्लेषण के नाम पर चलने वाला रुग्ण व्यक्तिवाद साहित्य में चल पड़ा।

तो जनता विरोधी नीति के आधार पर खड़ा होकर जो अस्वस्थ्य व्यक्तिवाद हिन्दी साहित्य में उग आया है वह कब तक चलेगा? कब तक फासिस्टों द्वारा किये गये इस वैचारिक षड़यन्त्र में हमारे कलाकार योग देते रहेंगे। कब तक समाज की भयंकर राष्ट्रीय और आर्थिक हलचलों से—इस महान, संस्कृति विरोधी बर्बर नाज़ियों के साथ हो रहे युद्ध से—इस भयानक अन्न संकट और वस्त्र संकट से वे उदासीन रहेंगे। राष्ट्रीय सामाजिक स्थितियों कठिनाइयों और संघर्षों में वे क्यों नहीं दिलचस्पी लेते। हमारी सांस्कृतिक और सामाजिक आकांक्षाओं की ऊष्मा, भव्यता और तेज क्यों नहीं उनकी कृतियों में मुखर होता। उच्च्य मानवता की स्थापना के भौतिक आधारों पर क्यों उनका विश्वास दृढ़ नहीं होता। पराजयवादी भाग्य दर्शन और पराजित देश के मुर्दा संस्कारवाद को वे क्यों अब तक नई दृष्टि से नहीं देख सके। वे जितने

अन्तर्मुख है उतने वहिर्मुख क्यों नहीं हो जाते। विशाल जीवन क्षेत्र की व्यापक और मूल समस्याओं की ओर क्यों उनकी दृष्टि नहीं जाती। जाग्रत प्रबुद्ध भारत की आकांक्षाओं के साथ वे क्यों नहीं चलते। वह व्यक्ति से अधिक प्रतीक और देश के सब से बड़े समूह के प्रतिनिधि क्यों नहीं हो पाते। देश के सामाजिक अंगों के नये वर्गीकरण में वह अपना स्थान क्यों नहीं लेते।

प्रगतिवादी साहित्य में कला वह नशा बन कर नहीं आती जिसके सपनों में मानव दरिद्रता और शोषण के बीच एक सूक्ष्म अतीन्द्रियवाद के ऐश्वर्य में निश्चिन्त, आनन्द से दिन काट सके। इसके विपरीत प्रगतिवाद में, सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के ऐतिहासिक आन्दोलनों में कला का स्थान निश्चित और सकर्मक होता है। मार्क्स ने ठीक ही कहा है कि मानव समाज का इतिहास वर्गद्वन्द्वों का इतिहास है। काल विशेष में यह संघर्ष मूलगत सामाजिक असंगतियों की उपस्थिति के कारण स्वयं एक क्रिया बन जाता है जो उस समय स्थापित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध एक विस्तृत अन्तर्विरोध के रूप में चलती है। विशाल भूखण्ड का ऐतिहासिक वास्तविक रूप, दरिद्र वर्गों का भयावह जीवन संग्राम, उनकी विजय गाथा, यूरोपीय और देशीय पूँजीवाद के आघात से उनकी पराजय और रूस की क्रान्ति के अधिनायकत्व में उनकी पुनः जययात्रा प्रगतिवादी साहित्य में अंकित हो चली है। इतिहास का भयावह क्षमाहीन रूप हम उसमें देख रहे हैं। यशपाल, चन्द्र किरण, विष्णु की कहानियों में प्रगति विरोधी शक्तियों को खत्म करके नये स्वतंत्र स्वस्थ और सुखमय जीवन के निर्माण में योग देने का सन्देश हमें मिलता है। फैशिज्म की कराल छाया को चीर डालने की जो ललकार साहित्य में शिवदान सिंह, डा० रामविलास और

अमृत राय ने उठाई है वह ज़ोर पकड़ती जा रही है। साहित्य को आज अन्ध श्रद्धा का वाहन न बनाकर एक सजीव गतिशील सामाजिक और साँस्कृतिक विज्ञान माना जा रहा है। प्रगतिवादी साहित्य में कला समाज स्वातंत्र्य के महान आदर्शों को सामने रखकर चलती है। आज राष्ट्रीय मोर्चे पर फासिस्टवाद की हार के साथ-साथ हिन्दी साहित्य में भारतीय जनतावाद का निर्माण कार्य भी दृढ़ हो रहा है।

साहित्य में कला के स्थान निरूपण की चर्चा के साथ समाजवादी आदर्शवाद की रेखा लेखा सुनकर चौंकने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन में कलाकार की जिम्मेदारी होती है। यह आवश्यक है कि वह उसके पक्ष या विपक्ष में सोचे और काम करे। निरपेक्षता और कला की उदासीन ऐकान्तिकता की दुहाई देकर वह बुराई में बढ़ावा ही देगा। अपने अन्नदाता समाज से उसका यह विश्वासघात होगा। मनुष्य के मन में भावी समाज व्यवस्था को न्याय एवं साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिये कल्पना को वास्तव रूप प्रदान करने की प्रेरणा कलाकार को देनी होगी। केवल अवचेतन मन की अस्फुट, अप्रबुद्ध, सुसुप्त अनुभूतियों को जाग्रत करना ही कला का ध्येय नहीं है जैसा बहुत से क्षेत्रों में आधुनिकता और प्रगति के नाम पर समझा जा रहा है। प्रज्ञावाद का आधार लेकर उसे चलना होगा। मानव संस्कृति की प्रवाहवान धारा को आगे बढ़ाना, स्रोत के मार्ग के रोड़े पत्थरों को अलग करना उसका ध्येय है। उसकी गति मानवता की ओर है। आखिर मुट्ठी भर लोगों के मनोरंजन और उपभोग के लिये समाज के सुख-दुख की उपेक्षा कब तक होगी। अवचेतन मन की लीलाओं को लेकर कब तक कलाबत्तू-बाज़ी होगी। मन के गहन प्रदेश में चलने वाले परस्पर विरोधी, असंलग्न विचारों के संघात कब तक रस

और माधुर्य्य के नाम पर हम पर लादे जायँगे। श्रेणी सीमा में बँधे होने के कारण जो कलाकार जनता के दैनिक संग्राम में पूर्ण आत्मनियोग करने के बजाय अपनी कुलीनता के प्रति चेतन बने रहना ही ध्येय बना लेते हैं वे फ़ाशिज्म और साम्राज्यवाद के जुड़वाँ साँप पर कैसे मारात्मक प्रहार कर सकेंगे। एक बात और है! प्रगतिवादी साहित्य में कला की यह मान्यता है कि बुद्धिजीवी और श्रमिकों के सम्मेलन के बिना फ़ाशिज्म के फन्दे से संस्कृति की रक्षा होना असम्भव है। यथार्थ वातावरण में—जनता के दैनिक संग्राम के मध्य में जीवन का जो इतिहास बनता है वही सच्चा होता है।

रवि बाबू की उक्ति याद आती है। अपनी रूस यात्रा को उन्होंने जीवन की तीर्थ यात्रा कहा था। चीन पर जापानी आक्रमण को जब कवि नागूची ने संस्कृति प्रसार के लिये किया गया आक्रमण बताया था तो उन्होंने कठोर शब्दों में उस जापानी सैनिकवाद के गुलाम कवि को फटकारा था। मनुष्यता के विकास के लिये स्वतंत्रता और संस्कृति के विकास के लिये समानता आवश्यक है। प्रगतिवादी कलाकार प्राण दे देगा परन्तु अपनी कला को जनता विरोधी और विपथगामी न होने देगा। वह व्यवस्थित, सुसंयत और संगठित रूप से सामाजिक विरोधों, अन्यायों, अत्याचारों और दम्भों से लड़ता चलेगा। फैशिज्म का नाश हो जाने पर भी वह उससे आजीवन घृणा करेगा। उसके साथ रोमारोलाँ, गोर्की, आरी बार ब्यूस, अप्टन सिन्कलेयर राल्फ फाक्स, काडवेल, टालर, और प्रेमचन्द की बलिष्ट लोक भावना की परम्परा है। कला की यही सच्ची परम्परा है। यही उसका सच्चा स्वरूप है जो प्रगतिवाद में सुरक्षित है।

प्रगतिवादी साहित्य में कला की एक और मान्यता है जिसे आज पेशेवर विरोधियों द्वारा न समझने का यत्न किया जा रहा है। वह यह कि यौन सम्बन्ध ही जीवन के सम्पूर्ण सम्बन्ध नहीं हैं। प्रत्येक सत्य शिव नहीं होता और सुन्दर तो बिलकुल नहीं होता। यथार्थ और वास्तव के नाम पर अपनी कृतियों में सामाजिक सम्बन्धों के गँदले चित्रों को अंकित करना और वह भी निरुद्देश भाव से केवल चित्रण के लिये चित्रण प्रगतिवादी चिन्ताधारा और कलाप्रणाली में स्थान नहीं पाते। समाज की बुराइयों को देख कर उन्हें ठीक वैसा ही, बिना उनके कारणों को पकड़े और जाने, चित्रित करना, सीमेन्ट से पटी नालियों के नीचे बहने वाले मलमूत्र को ज्यों का त्यों पाठक के मुँह पर फेंक देना एक बात है और समाज के गर्भ में पनपती और बाढ़ की तरह बढ़ती हुई उन ताकतों को सजग, सबल सक्षम ढंग से पेश करना जो उस मैले को और उसके पैदा करने वालों को साथ-साथ समाप्त कर देंगी दूसरी बात है। मनुष्य की विराट, दुर्जेय जीवनशक्ति की परिचायक स्थितियों का चित्रण प्रगतिवादी कला में होता है। साहित्य भी एक क्रिया है जिसकी अवस्थायें होती हैं। यह क्रिया और उसकी अवस्थायें सामाजिक प्रगति की क्रिया और अवस्थाओं पर निर्भर हैं। साहित्य इतिहास का सहचर है। इतिहास घटनाओं के घटित होने के पूर्व नहीं लिखा जा सकता। प्रगतिवादी कला की रचना सामाजिक आन्दोलनों के आधार पर होगी। यही समाज चेतना और ऐतिहासिक बोध प्रगतिवादी कला का मेरुदन्ड है। जीवन की वास्तविकता से भाग कर छायामयी और रहस्य की दुनिया की तीर्थयात्रा उसमें नहीं होती।

प्रगतिवादी कला को अक्सर प्रचार का एक संगठित दस्ता कहा जाता है। परन्तु कला की जो एक असाधारणता विन्यासमुघरता,

और सौन्दर्य योजना की पूर्णता की सत्ता होती है उससे प्रगतिवादी ने कब इन्कार किया है। उद्देश और हेतु का प्रश्न साहित्य में वह अवश्य खड़ा करता है। परन्तु साहित्य और कला के ऊपर फैसिस्ट निज़ाम में जो बन्धन लगाये गये हैं उनका विरोध प्रगतिवाद ने किया है। जीवन की प्रत्येक स्वस्थ्य प्रवृत्ति के लिये प्रगतिवादी कला में स्थान है। साहित्यिकों के ऊपर सैनिक अनुशासन लगाने वाली राजकीय आज्ञाओं का उसमें प्रबल विरोध हुआ है। हर युग और हर देश में जीवन से दूर हटते हुए लेखकों का एक दल रहा है जिसने सदैव जीवन और साहित्य में निकटता की स्थापना का विरोध किया है और करता रहेगा। परन्तु ज्यों-ज्यों उसका सामाजिक प्रगति के नियमों का ज्ञान बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका विरोध कम होता जायगा। वर्तमान को सर्वथा व्यर्थ एवं नैराश्यपूर्ण समझने की प्रवृत्ति घटती जायगी। आधुनिक महाजनी सभ्यता ने जीवन में जो सन्देह, अविश्वास, आस्थाहीनता और अश्रद्धा लाकर भर दी है वह नष्ट होती चलेगी।

प्रगतिवादी कला के अन्तर्गत यंत्रविज्ञान की असीम उन्नति, मनः समीक्षाशास्त्र की नवीनतम प्रणाली और परिणति, फासिस्ट मतवाद के शव पर एक युग से असफल पड़े गणतन्त्र का अभ्युत्थान, समाजवाद का व्यापक प्रचार, राष्ट्र एवं समाज जीवन के सम्पूर्ण रूपान्तर ये सभी आ जाते हैं। जीवन के आदर्शों के, संस्कृति की धारा के सारे उतार चढ़ाव उसमें हैं। एक निश्चित जीवन दर्शन और नूतन रसादर्शों की नियोजना उसमें होती है। लोगों के परम्परागत विश्वास क्यों उठ रहे हैं—आस्तिक बुद्धि की भित्ति क्यों ढह रही है—इसके कारणों को विस्तार से उसमें समझाया जाता है। आत्म केन्द्रिकता से उत्पन्न होने वाली सिम्बालिस्ट और इमेजिष्ट कला की भाँति वह केवल कलाकार

के शुतुर्मुर्गी अहम् की तुष्टि नहीं है वरन् वर्तमान क्षयी समाज व्यवस्था को नष्ट करने और न्याय एवं साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा का कर्मशील आग्रह उसमें है। मनुष्य के मन की स्वस्थ्य और स्वाभाविक बुद्धि वृत्तियों का मज़ाक बनाने वाली 'सररियलिज्म' की रचनायें इस ह्रासोन्मुख समाज के साथ-साथ खत्म हो जायँगी। प्रगतिवादी कला में सामाजिक परिस्थितियों के प्रति मनुष्य के विक्षुब्ध मन और आत्मा के प्रकाश को फैलाकर जटिल नैतिक प्रश्नों और उसकी भौतिक, द्वन्द्वात्मक चेष्टाओं की सूक्ष्म आलोचना मार्क्सवादी चेतनाधारों की नयी ज़मीन पर की जाती है। जीवन को नर्क के समान धूसर, रुक्ष और वीभत्स देखकर भी प्रगतिवादी कलाकार नैराश्यवाद, अवसाद और न्यूरासिस से ग्रस्त चित्रण को पनाह नहीं देता। महापंडित राहुल जी की कृतियाँ, भगवती प्रसाद वाजपेयी का नवीनतम उपन्यास 'निमंत्रण,' और यशपाल का नया उपन्यास 'देशद्रोही' प्रमाण स्वरूप पेश किये जा सकते हैं। इतिहास की अनिवार्यता को साहित्य में स्वीकार करना ही होगा।

प्रगति विरोधी, पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों में मगन साहित्यकार साहित्य में इन नये जीवन तत्वों के प्रवेश से क्यों घबराते हैं? अपने विश्रृंखल मानसिक अनुभावों से कला को रंजित करते रहने के बजाय वे एक अखन्ड जीवन बोध उसमें क्यों नहीं देते? उन्हें यह मानने में क्या एतराज़ है कि साहित्य जीवन को अच्छा बनाने का, जीवन पर अधिकार करने का एक अस्त्र है? और यदि मानते हैं तो वे इस दृष्टिकोण का मानसिक रूप से साथ क्यों नहीं दे पाते? उनके जीवन-रहित, साहित्यिक, मकड़ी के जाले कब तक बुने जायँगे। सच तो यह है कि सामाजिक प्रगति और आन्दोलनों को समझे बिना ईमानदार

कलाकार रचना नहीं कर सकता। साथ ही भविष्य का साथ दे सकने के लिये उसे जन-जीवन और जन-आन्दोलनों की प्राणवाहिनी क्षमताओं का रस खींचना होगा। तभी उसके जीवन की और कला की आवश्यकतायें पूरी होंगी। प्रगतिवादी कला जनता के मनोबल के नीचे स्तर को ऊपर उठाती है। देश-जीवन की संयुक्त और संगठित शक्ति को जाग्रत करती है। नासमझी या असहायता के भाव से पैदा होने वाली साहस हीनता, निराशा और निष्क्रियता के लिये उसमें स्थान नहीं। मुर्दा अवसाद और तज्जनित गतिरोध का खात्मा करना उसका लक्ष्य है।

इतिहास में—प्रत्येक व्यक्ति जीवन के इतिहास में, समूची मानव जाति के इतिहास में ऐसे अवसर कम आते हैं जब जीवन की माँगे मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा, आकाँक्षाओं के साथ पूर्ण रूप से विनिमय कर सकें। आज वही समय आ गया है। प्रेरणा से भरे हुए अग्रसर, नई दुनिया के निर्माण में अपने अनुराग और लगन की ज्वाला में सुलगते हुए कलाकारों का दल आज साहित्य की एक नूतन व्यवस्था का निर्माण कर रहा है। वह सौन्दर्यात्मक निराशावाद जो एक युग तक उनके पीछे पड़ा रहा आज छूट गया है। प्रगतिवादी कला में उन सभी परिवर्तनों का उल्लेख होता है जो सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों में हो रहे हैं। जिन्होंने उनको कभी नहीं देखा—जिन्होंने उनके देश को कभी नहीं जाना, उन करोड़ों आदमियों का पक्ष लेकर धन के राक्षसों और उनके चापलूस लेखकों के विरुद्ध प्रबल विरोध प्रगतिवादी कला में मिलेगा। पूँजीवादी निर्दयता और मानवीय सम्बन्धों की पूँजीवादी विकृति सदा के लिये खत्म कर देने को वह कटिबद्ध है। युद्ध ने उसमें नई सृजन शक्ति भर दी है। अपने अधिकारों के लिये लड़ने

वाली देश की मेहनतकश जनता के असीम उत्साह, उद्दाम विवेक भावना और आत्मबलिदान को प्रकट करना प्रगतिवादी कला का लक्ष्य है। आज प्रगति की शक्तियाँ और उसकी विरोधी ताकतें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तिम युद्ध के लिये संगठित हो रही हैं। तमाम प्रगति विरोधी शक्तियों के खिलाफ़ संयुक्त मोर्चे की आवाज़ उठ रही है। जनता के वास्तविक मुक्ति संग्राम के सर्वाग्रगामी भावादर्श को लेकर प्रगतिवादी कला के उपादान चलते हैं। रैल्फ फाक्स ने ठीक ही लिखा है कि मार्क्सवाद रचनात्मक कलाकार को वास्तविकता की कुन्जी सौंप देता है जिसमें वह देख सके कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रभय और स्थान उसमें क्या है। साथ ही मार्क्सवाद बहुत सावधानी से मानव को उसके सम्पूर्ण मूल्य का आभास कराता है।

प्रगतिवादी कला में गतानुगतिकता, रुढ़िपूजा का आदर नहीं क्यों कि जहाँ यह होगा वहाँ प्राणों का स्पंदन, जीवन का स्फुरण और नव-नव शक्तियों का उन्मेष नहीं मिलेगा। मानव जीवन स्थिति-शील होकर कभी नहीं रह सका है। वह या तो आगे बढ़ेगा या पीछे की ओर हटेगा। इसलिये परिवर्तन की अवहेलना करके स्थिरत्व की कामना करना, समाज विज्ञान की गति से अनभिज्ञता प्रकट करना है। जिन जीर्ण पुरातन आदर्शों में अब सृजन शक्ति नहीं रह गई उनकी पूजा करते समय हमें 'निटशे' के शब्द याद रखने चाहिये—"स्मारक से सचेत रहो ताकि उसके नीचे दब कर मर न जाओ"। प्रगतिवादी कला में मानव के आत्म विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। मुट्ठी भर धनिक विलासी लोगों के जीवन के संगी फूल चाँदनी, मलय पवन की अपेक्षा नित्य जीवन के साथी धुआँ, धूल, धक्का और मिट्टी के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है। उसमें प्रकृत साम्यवादी

समाज का रूप निखरता है और श्रमजीवियों को मुक्ति संग्राम में भाग लेने की प्रेरणा रहती है। जीवन के समस्त दुःख, कष्ट, नैराश्य एवं व्यर्थता के बीच भी भविष्य का ज्योतिर्मय रूप सामने रहता है। प्रगतिवादी कला मानव *मन* को समाज चेतना, वर्ग संघर्ष एवं ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित करती है। Thoughts of a dry brain in a dry season—मनुष्य की मुक्ति नहीं, जीवन का परित्राण नहीं, ध्वंसोन्मुख धनिक सभ्यता के क्षयी कलेवर को देख-देख कर नैराश्य का शेष संगीत गाना— जीवन की पंगुता, उसकी गतिछन्द शिथिलता, वैराग्य, नैराश्य, सर्वजन सम्मत कर्तव्य ज्ञान के विरुद्ध विद्रोह ये सब हमारी कला से बहिष्कृत हो चुके हैं। और उनके स्थान पर आकर खड़ा हुआ है व्यक्ति द्वारा व्यक्ति, वर्ग द्वारा वर्ग, देश द्वारा देश के शोषण के नाश का, जन-शक्तियों के उदय और जागृति का उज्जवल सन्देश।

प्रेमचन्द

—— :•: ——

प्रेमचन्द भारतीय जनतावाद के सब से महान लेखक और कलाकार थे। साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं के स्थान पर सामाजिक आवश्यकताओं का निरूपण सब से पहले हमें उनके साहित्य में देखने को मिला। साहित्य को व्यक्ति के निजी अनुभवों और भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति मात्र न मान कर उन्होंने ही उसे सब से पहले मानवता की उन्नति और कल्याण का माध्यम, जीवन की पूर्णता के प्रचार का साधन स्वीकार किया। साहित्य में व्यक्तिगत स्वाधीनता के पूर्ण हामी होते हुए भी इन्होंने कहीं व्यक्तिवाद का समर्थन नहीं किया—उस छायावादी युग में जब एक तीक्ष्ण वैयक्तिक भावात्मक तन्मयता साहित्य का प्राण समझी जाती थी। व्यक्तिगत विशिष्ठताओं और विलक्षणताओं के व्यक्तीकरण के उस युग में और आज भी जब समस्याओं का समाधान व्यक्ति में ढूँढ़ा जाता है कैसे इस महाप्राण कलाकार ने साहित्य और कला का सामाजीकरण करने का लक्ष्य प्रतिफलित किया यह देख कर समाजशास्त्र का विद्यार्थी विस्मित हो जाता है।

प्रेमचन्द ने जिस समय अपना साहित्यिक कार्य आरम्भ किया उस समय हिन्दी साहित्य में परम्परागत रूढ़ियों, मुर्दा रीति रवाजों और

सामाजिक संस्कारों के प्रति विरोध का, मुक्त और सुखद वातावरण में साँस लेने की आकाँक्षा का तथा व्यक्तिगत सम्मान और राष्ट्रीयगौरव की तीव्र भावना का आभास मिलने लगा था। प्रान्तीय भाषाओं के समुन्नत साहित्यों में पीड़ितों और निम्न से निम्न पददलितों के प्रति बंधुत्व भाव का प्रदर्शन होने लगा था। जीवन की वास्तविकता के निकट आने तथा आज की अंधकारपूर्ण अवस्था से मुक्त होकर एक नये समाज का निर्माण करने के लिये (मार्क्सवादी समाज दर्शन और अर्थशास्त्र की भित्ति पर नहीं) कष्ट एवं यातनायें भोगने वाले संसार की छटपटाती सजग आत्मा की अभिव्यक्ति हो चली थी। दूसरी ओर महात्मा गाँधी की सरल सुबोध अँगरेजी और गुजराती गद्यशैली और भाषा भारतीय साहित्य परम्परा में गद्य को पद्य से पृथक कर चुकी थी। एक निखरा निखरा सा सचापन चारों ओर व्याप्त था। मशीन युग की रुक्ष और राक्षसी सभ्यता के प्रति लोग विद्रोही हो चले थे। एक विशद ग्राम सहानुभूति चारों ओर उमड़ पड़ी थी। आदर्श पोषण की चेतना चारों ओर जीवन और साहित्य में उभर रही थी।

प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य में ही नहीं भारतीय साहित्य में एक नई परम्परा स्थापित की। यह परम्परा थी सामूहिक और सामाजिक चेतना की, सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण की और सर्वोदय की। श्रमविभाजन के फल स्वरूप हमारा दृष्टिकोण सीमित हो गया था। सामाजिक विभाजन ने हमें जन जीवन से इतना विच्छिन्न कर दिया था कि हम अपने आपको ही सब कुछ समझ रहे थे। प्रेमचन्द ने इस सामाजिक और व्यक्तिगत हित के बीच में बढ़ते हुए विरोध को समझा और जिस मौलिक सामाजिक ऐक्य के आधार पर मानव जीवन इस भयंकर वर्ग विभाजन के होने पर भी टिका है—उस मूलगत सामा-

जिक तत्व को पहचाना। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि प्रेमचन्द ने इस सामूहिक और सामाजिक चेतना को केवल बुद्धि से ही स्वीकार नहीं किया था। वह उनकी व्यक्तिगत चेतना का अंश बन चुकी थी और कलाकार के अन्दर जो एक नैसर्गिक अराजकतावादी तत्व होता है वह सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के ज्ञान स्वरूप आपसे आप खत्म हो गया था। अपने व्यक्तित्व के नाप से दुनिया को देखने वाले आज के बड़े से बड़े प्रगतिशील हिन्दी लेखक और कवि में भी यह organic समन्वय नहीं हो पाया। लगता है जैसे साहित्य के नये रचनात्मक युग को प्रेमचन्द जिस मंज़िल पर छोड़ गये वह अब भी वहीं पड़ा है।

प्रेमचन्द का साहित्य एक वाक्य में सामाजिक संघर्ष का साहित्य है। किसान और ज़मींदार का संघर्ष, मालिक और मज़दूर का द्वन्द, नवीन और पुरातन का युद्ध उनकी कृतियों में भरा पड़ा है। मेशीनरी युग के पहले किसान दूसरों के मोहताज न थे। प्रत्येक ग्राम अपनी ज़रूरत की चीज़ें खुद ही पैदा कर लेता था। दूसरे गाँवों से आदान प्रदान का मौका कम आता था। अँगरेज़ों के आने के पहले भारत में यही होता था। बाद में अँगरेज़ी साम्राज्यवाद के नीचे देशी पूँजीवाद का जन्म हुआ। दूसरी ओर ज़मींदारी प्रथा जो समाज के उत्पादन को किसी प्रकार नहीं बढ़ाती केवल लगान वसूली और पूँजीवादी शासनतन्त्र को क़ायम रखने के लिये चलाई जाती है। ज़मींदार की सलामी और सरकारी टैक्स देने, साल भर के लिये खाने पहनने का सामान करने और बाप दादा के ज़माने के ऋण का शोध करने के बाद किसानों के पास कानी कौड़ी नहीं बचती। तब दूसरे साल फ़सल बोने का खर्च कहाँ से आये। बाध्य होकर किसान को महाजन को आगे हाथ फैलाना

पड़ता है। साम्राज्य, सामन्त और सेना से उत्पीड़ित किसान के आगे साहूकार आकर थैली लिये खड़ा होता है। खेत जोतने के पहले ही साहूकार फ़सल का बँटवारा कर लेता है। इसलिये गाँव की अर्थनीति में ज़मीदार के साथ महाजन और व्यापारी का भी कुचक्र चलता रहता है। बहुधा ज़मीदार महाजन होता है और महाजन, व्यापारी और ज़मीदार के स्वार्थ बिलकुल मिले जुले होते हैं। इन्हीं तीन खूटियों पर औपनिवेशिक रक्तशोषण की दागबेल रखी जाती है। ब्रिटिशभारत में जितनी भूमि पर खेती होती है उसके अर्ध भाग और देशी राज्यों की समस्त भूमि पर थोड़े मे ज़मीदारों का अधिकार है। बाकी भूमि पर ब्रिटिश सरकार की सत्ता है। अर्थ संकट बढ़ते जाने के साथ-साथ कच्चे माल के दाम घटते जाते हैं। आमदनी कम होने के कारण किसान लगान और सूद नहीं दे सकता। पूँजीवाद का शिकंजा उस पर अधिकाधिक कसता जाता है। जिस कच्चे माल को तैयार माल में परिवर्तन करने के लिये पूँजीवाद का जन्म होता है वह जितने ही सस्ते दामों में खरीदा जा सके और मज़दूरों को जितनी कम मज़दूरी दी जाय उतना ही पूँजीवाद के हित में अच्छा होगा। ज़मीदार और साहूकार के बोझ से तंग आकर किसान पूँजीपति के हाथों जल्दी से जल्दी माल बेंच देता है। और जिस कच्चे माल को वह सस्ते दाम पर बेंचता है उसी को तैयार माल के रूप में उसे बहुत मँहगे दाम पर खरीदना पड़ता है।

भारतीय किसान की दूसरी कठिनाई है खेती के आधुनिक साधनों का उसके पास न होना। परन्तु पूँजीवाद का तो लक्ष्य ही है किसान से सस्ते दामों पर माल खरीदना और मँहगे दामों पर तैयार माल बेंचना। इसके लिये किसान की अर्थनीति उसे अपने पंजे में रखनी

होगी। हमारे देश में एक प्रकार से दोहरा शोषण चक्र है। विदेशी पूँजीवाद और देशी पूँजीवाद दोनों का संयुक्त शोषण भारतीय किसान को निचोड़ता है। पुलिस सेना और सरकारी कर्मचारियों की एक बड़ी तादाद किसान के सिर पर रहनी ही चाहिये और उनका खर्च चलाने के लिये किसान की ही जेब तराशी जाती है। गाँव के चौकीदार और पटवारी से लेकर बड़े बड़े हाकिमों तक सब के हक़ बँधे हैं और किसान उन्हें अदा करता है। परन्तु इन सब के बदले किसान को क्या मिलता है! राष्ट्र का कर्तव्य है टैक्स के बदले करदाता के हित के लिये कुछ करे—किसान की उत्पादिका शक्ति को बढ़ाये। परन्तु ऐसा करना विदेशी पूँजीवाद के लिये घातक होगा। इन सब परिस्थितियों के कारण किसान को महाजन का आश्रय लेना पड़ता है। और जब सभी किसान को चूस रहे हैं तो महाजन ही क्यों पीछे रहे। इन सब शोषणों से चुस कर अन्त में किसान अपने श्रमशक्ति रूपी माल को खेती में न लगाकर पूँजीवाद के बाज़ार में बेंचने आ जाता है अर्थात् खेती छोड़कर शहरों में—मिलों में मज़दूरी करने जाता है।

किसान धनी भी होते हैं—मध्यवित्त भी और ग़रीब भी। यद्यपि अब दरिद्र किसानों की तादाद बहुत बढ़ गई है फिर भी खाते पीते किसानों का स्वार्थ उनसे भिन्न है। अपनी गाय, भैंस और ज़मीन की रक्षा के लिये उसके मन में एक प्रबल मनोरथ होता है। मार्क्सवादी का कहना है कि निजी सम्पत्ति की यह माया ही किसानों में श्रेणी चेतना पैदा नहीं होने देती और फलस्वरूप वे संघबद्ध नहीं हो सकते। भारतीय किसान भविष्य की ओर नहीं देख सकता। वह हमेशा अतीत के गान में मस्त रहता है। उन पिछले दिनों की याद में वह मगन रहता है जब उसके पुरखे अपने छोटे छोटे खेतों में अल्प उत्पादनशील

औज़ारों से खेती करते थे जब ज़मीदार सतयुगी होते थे और उनके यहाँ लड़के लड़कियों की शादी में किसानों को दावत खाने के लिये निमंत्रित किया जाता था। प्रेमचन्द का किसान दुनिया को आगे न बढ़ने देगा—नये-नये यन्त्रों और उत्पादन प्रणाली से खेती न करना चाहेगा। शोषण को मिटाने में वह मज़दूर के साथ नहीं है। वह दुनिया को पीछे लौटाना चाहता है। गण-आन्दोलन में भी उसकी प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर झुक जाती है।

प्रेमचन्द का साहित्य किसानों की इन्हीं अवस्थाओं और संस्कारों का दृश्य रूप है। प्रेमचन्द की भावना एक क्षण के लिये भी समाज निरपेक्ष नहीं हुई और वह सदैव समाज में प्रतिष्ठा पाये हुए स्वरूप में ही मूर्तिमान हुई है। समाज के सारे आन्दोलनों और हलचलों, असंगतियों और विरोधों का प्रतिबिम्ब उसमें अनुवाद या प्रतिवाद के रूप में पड़ा है और अत्यन्त शान्त, सयत और आत्म-प्रच्छन्न रूप में पड़ा है। सामाजिक परिस्थितियों में उलझे हुए मानव के धार्मिक, आचारिक और नैतिक विचार कैसे बनते बिगड़ते हैं, यह प्रेमचन्द की कृतियों को पढ़ कर स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय किसान और श्रमिक की आत्मा और उसके हृदय के रहस्यों को व्यक्त करने में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। उनके यहाँ विचित्र घटनायें नहीं होतीं। असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन कथा होते हैं जिनमें हम नायक और नायिकाओं को भिन्न भिन्न पर रोज आने वाली परिस्थितियों में, सुख और दुःख, मैत्री और द्वेष, निन्दा और प्रसंशा, त्याग और स्वार्थ के बीच से गुजरते हुए देखते हैं—उसी तरह जैसे हम स्वयं उन्हीं अवस्थाओं, आन्तरिक और

के शुतुर्मुर्गी अहम् की तुष्टि नहीं है वरन् वर्तमान क्षयी समाज व्यवस्था को नष्ट करने और न्याय एवं साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा का कर्मशील आग्रह उसमें है। मनुष्य के मन की स्वस्थ्य और स्वाभाविक बुद्धि वृत्तियों का मज़ाक बनाने वाली 'सररियलिज्म' की रचनायें इस ह्रासोन्मुख समाज के साथ-साथ खत्म हो जायँगी। प्रगतिवादी कला में सामाजिक परिस्थितियों के प्रति मनुष्य के विक्षुब्ध मन और आत्मा के प्रकाश को फैलाकर जटिल नैतिक प्रश्नों और उसकी भौतिक, द्वन्द्वात्मक चेष्टाओं की सूक्ष्म आलोचना मार्क्सवादी चेतनाधारों की नयी ज़मीन पर की जाती है। जीवन को नर्क के समान धूसर, रुक्ष और वीभत्स देखकर भी प्रगतिवादी कलाकार नैराश्यवाद, अवसाद और न्यूरासिस से ग्रस्त चित्रण को पनाह नहीं देता। महापंडित राहुल जी की कृतियाँ, भगवती प्रसाद वाजपेयी का नवीनतम उपन्यास 'निमंत्रण,' और यशपाल का नया उपन्यास 'देशद्रोही' प्रमाण स्वरूप पेश किये जा सकते हैं। इतिहास की अनिवार्यता को साहित्य में स्वीकार करना ही होगा।

प्रगति विरोधी, पुरानी मान्यताओं और रूढ़ियों में मगन साहित्यकार साहित्य में इन नये जीवन तत्वों के प्रवेश से क्यों घबराते हैं ? अपने विशृँखल मानसिक अनुभावों से कला को रंजित करते रहने के बजाय वे एक अखन्ड जीवन बोध उसमें क्यों नहीं देते ? उन्हें यह मानने में क्या एतराज़ है कि साहित्य जीवन को अच्छा बनाने का, जीवन पर अधिकार करने का एक अस्त्र है ? और यदि मानते हैं तो वे इस दृष्टिकोण का मानसिक रूप से साथ क्यों नहीं दे पाते ? उनके जीवन-रहित, साहित्यिक, मकड़ी के जाले कब तक बुने जायँगे। सच तो यह है कि सामाजिक प्रगति और आन्दोलनों को समझे बिना ईमानदार

कलाकार रचना नहीं कर सकता। साथ ही भविष्य का साथ दे सकने के लिये उसे जन-जीवन और जन-आन्दोलनों की प्राणवाहिनी क्षमताओं का रस खींचना होगा। तभी उसके जीवन की और कला की आवश्यकतायें पूरी होंगी। प्रगतिवादी कला जनता के मनोबल के नीचे स्तर को ऊपर उठाती है। देश-जीवन की संयुक्त और संगठित शक्ति को जागृत करती है। नासमझी या असहायता के भाव से पैदा होने वाली साहस हीनता, निराशा और निष्क्रियता के लिये उसमें स्थान नहीं। मुर्दा अवसाद और तज्जनित गतिरोध का खात्मा करना उसका लक्ष्य है।

इतिहास में—प्रत्येक व्यक्ति जीवन के इतिहास में, समूची मानव जाति के इतिहास में ऐसे अवसर कम आते हैं जब जीवन की माँगे मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा, आकाँक्षाओं के साथ पूर्ण रूप से विनिमय कर सकें। आज वही समय आ गया है। प्रेरणा से भरे हुए अग्रसर, नई दुनिया के निर्माण में अपने अनुराग और लगन की ज्वाला में सुलगते हुए कलाकारों का दल आज साहित्य की एक नूतन व्यवस्था का निर्माण कर रहा है। वह सौन्दर्यात्मक निराशावाद जो एक युग तक उनके पीछे पड़ा रहा आज छूट गया है। प्रगतिवादी कला में उन सभी परिवर्तनों का उल्लेख होता है जो सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों में हो रहे हैं। जिन्होंने उनको कभी नहीं देखा—जिन्होंने उनके देश को कभी नहीं जाना, उन करोड़ों आदमियों का पक्ष लेकर धन के राक्षसों और उनके चापलूस लेखकों के विरुद्ध प्रबल विरोध प्रगतिवादी कला में मिलेगा। पूँजीवादी निर्दयता और मानवीय सम्बन्धों की पूँजीवादी विकृति सदा के लिये खत्म कर देने को वह कटिबद्ध है। युद्ध ने उसमें नई सृजन शक्ति भर दी है। अपने अधिकारों के लिये लड़ने

वाली देश की मेहनतकश जनता के असीम उत्साह, उद्दाम विवेक भावना और आत्मबलिदान को प्रकट करना प्रगतिवादी कला का लक्ष्य है। आज प्रगति की शक्तियाँ और उसकी विरोधी ताकतें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्तिम युद्ध के लिये संगठित हो रही हैं। तमाम प्रगति विरोधी शक्तियों के खिलाफ़ संयुक्त मोर्चे की आवाज़ उठ रही है। जनता के वास्तविक मुक्ति संग्राम के सर्वाग्रगामी भावादर्श को लेकर प्रगतिवादी कला के उपादान चलते हैं। रैल्फ फाक्स ने ठीक ही लिखा है कि मार्क्सवाद रचनात्मक कलाकार को वास्तविकता की कुन्जी सौंप देता है जिसमें वह देख सके कि प्रत्येक व्यक्ति का प्रश्रय और स्थान उसमें क्या है। साथ ही मार्क्सवाद बहुत सावधानी से मानव को उसके सम्पूर्ण मूल्य का आभास कराता है।

प्रगतिवादी कला में गतानुगतिकता, रुढ़िपूजा का आदर नहीं क्यों कि जहाँ यह होगा वहाँ प्राणों का स्पंदन, जीवन का स्फुरण और नव-नव शक्तियों का उन्मेष नहीं मिलेगा। मानव जीवन स्थिति-शील होकर कभी नही रह सका है। वह या तो आगे बढ़ेगा या पीछे की ओर हटेगा। इसलिये परिवर्तन की अवहेलना करके स्थिरत्व की कामना करना, समाज विज्ञान की गति से अनभिज्ञता प्रकट करना है। जिन जीर्ण पुरातन आदर्शों में अब सृजन शक्ति नहीं रह गई उनकी पूजा करते समय हमें 'निटशे' के शब्द याद रखने चाहिये—"स्मारक से सचेत रहो ताकि उसके नीचे दब कर मर न जाओ"। प्रगतिवादी कला में मानव के आत्म विकास का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता। मुठ्ठी भर धनिक विलासी लोगों के जीवन के संगी फूल चाँदनी, मलय पवन की अपेक्षा नित्य जीवन के साथी धुआँ, धूल, धक्का और मिट्टी के साथ उसका विशेष सम्बन्ध है। उसमें प्रकृत साम्यवादी

समाज का रूप निखरता है और श्रमजीवियों को मुक्ति संग्राम में भाग लेने की प्रेरणा रहती है। जीवन के समस्त दुःख, कष्ट, नैराश्य एवं व्यर्थता के बीच भी भविष्य का ज्योतिर्मय रूप सामने रहता है। प्रगतिवादी कला मानव मन को समाज चेतना, वर्ग संघर्ष एवं ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित करती है। Thoughts of a dry brain in a dry season—मनुष्य की मुक्ति नहीं, जीवन का परित्राण नहीं, ध्वंसोन्मुख धनिक सभ्यता के क्षयी कलेवर को देख-देख कर नैराश्य का शेष संगीत गाना– जीवन की पंगुता, उसकी गतिछन्द शिथिलता, वैराग्य, नैराश्य, सर्वजन सम्मत कर्तव्य ज्ञान के विरुद्ध विद्रोह ये सब हमारी कला से बहिष्कृत हो चुके हैं। और उनके स्थान पर आकर खड़ा हुआ है व्यक्ति द्वारा व्यक्ति, वर्ग द्वारा वर्ग, देश द्वारा देश के शोषण के नाश का, जन-शक्तियों के उदय और जागृति का उज्जवल सन्देश।

प्रेमचन्द

—— :•: ——

प्रेमचन्द भारतीय जनतावाद के सब से महान लेखक और कलाकार थे। साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं के स्थान पर सामाजिक आवश्यकताओं का निरूपण सब से पहले हमें उनके साहित्य में देखने को मिला। साहित्य को व्यक्ति के निजी अनुभवों और भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति मात्र न मान कर उन्होंने ही उसे सब से पहले मानवता की उन्नति और कल्याण का माध्यम, जीवन की पूर्णता के प्रचार का साधन स्वीकार किया। साहित्य में व्यक्तिगत स्वाधीनता के पूर्ण हामी होते हुए भी इन्होंने कहीं व्यक्तिवाद का समर्थन नहीं किया—उस छायावादी युग में जब एक तीव्र वैयक्तिक भावात्मक तन्मयता साहित्य का प्राण समझी जाती थी। व्यक्तिगत विशिष्टताओं और विलक्षणताओं के व्यक्तीकरण के उस युग में और आज भी जब समस्याओं का समाधान व्यक्ति में ढूँढ़ा जाता है कैसे इस महाप्राण कलाकार ने साहित्य और कला का सामाजीकरण करने का लक्ष्य प्रतिफलित किया यह देख कर समाजशास्त्र का विद्यार्थी विस्मित हो जाता है।

प्रेमचन्द ने जिस समय अपना साहित्यिक कार्य आरम्भ किया उस समय हिन्दी साहित्य में परम्परागत रूढ़ियों, मुर्दा रीति रवाजो और

सामाजिक संस्कारों के प्रति विरोध का, मुक्त और सुखद वातावरण में साँस लेने की आकाँक्षा का तथा व्यक्तिगत सम्मान और राष्ट्रीयगौरव की तीव्र भावना का आभास मिलने लगा था। प्रान्तीय भाषाओं के समुन्नत साहित्यों में पीड़ितों और निम्न से निम्न पददलितों के प्रति बंधुत्व भाव का प्रदर्शन होने लगा था। जीवन की वास्तविकता के निकट आने तथा आज की अंधकारपूर्ण अवस्था से मुक्त होकर एक नये समाज का निर्माण करने के लिये (मार्क्सवादी समाज दर्शन और अर्थशास्त्र की भित्ति पर नहीं) कष्ट एवं यातनायें भोगने वाले संसार की छटपटाती सजग आत्मा की अभिव्यक्ति हो चली थी। दूसरी ओर महात्मा गाँधी की सरल सुबोध अँगरेजी और गुजराती गद्यशैली और भाषा भारतीय साहित्य परम्परा में गद्य को पद्य से पृथक कर चुकी थी। एक निखरा निखरा सा सच्चापन चारों ओर व्याप्त था। मशीन युग की रुक्ष और राक्षसी सभ्यता के प्रति लोग विद्रोही हो चले थे। एक विशद ग्राम सहानुभूति चारों ओर उमड़ पड़ी थी। आदर्श पोषण की चेतना चारों ओर जीवन और साहित्य में उभर रही थी।

प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य में ही नहीं भारतीय साहित्य में एक नई परम्परा स्थापित की। यह परम्परा थी सामूहिक और सामाजिक चेतना की, सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण की और सर्वोदय की। श्रमविभाजन के फल स्वरूप हमारा दृष्टिकोण सीमित हो गया था। सामाजिक विभाजन ने हमें जन जीवन से इतना विच्छिन्न कर दिया था कि हम अपने आपको ही सब कुछ समझ रहे थे। प्रेमचन्द ने इस सामाजिक और व्यक्तिगत हित के बीच में बढ़ते हुए विरोध को समझा और जिस मौलिक सामाजिक ऐक्य के आधार पर मानव जीवन इस भयंकर वर्ग विभाजन के होने पर भी टिका है—उस मूलगत सामा-

जिक तत्व को पहचाना। सबसे बड़े आश्चर्य की बात यह है कि प्रेमचन्द ने इस सामूहिक और सामाजिक चेतना को केवल बुद्धि से ही स्वीकार नहीं किया था। वह उनकी व्यक्तिगत चेतना का अंश बन चुकी थी और कलाकार के अन्दर जो एक नैसर्गिक अराजकतावादी तत्व होता है वह सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के ज्ञान स्वरूप आपसे आप खत्म हो गया था। अपने व्यक्तित्व के नाप से दुनिया को देखने वाले आज के बड़े से बड़े प्रगतिशील हिन्दी लेखक और कवि में भी यह organic समन्वय नहीं हो पाया। लगता है जैसे साहित्य के नये रचनात्मक युग को प्रेमचन्द जिस मंज़िल पर छोड़ गये वह अब भी वहीं पड़ा है।

प्रेमचन्द का साहित्य एक वाक्य में सामाजिक संघर्ष का साहित्य है। किसान और ज़मींदार का संघर्ष, मालिक और मज़दूर का द्वन्द, नवीन और पुरातन का युद्ध उनकी कृतियों में भरा पड़ा है। मेशीनरी युग के पहले किसान दूसरों के मोहताज न थे। प्रत्येक ग्राम अपनी ज़रूरत की चीज़ें खुद ही पैदा कर लेता था। दूसरे गाँवों से आदान प्रदान का मौका कम आता था। अँगरेज़ों के आने के पहले भारत में यही होता था। बाद में अँगरेज़ी साम्राज्यवाद के नीचे देशी पूँजीवाद का जन्म हुआ। दूसरी ओर ज़मीदारी प्रथा जो समाज के उत्पादन को किसी प्रकार नहीं बढ़ाती केवल लगान वसूली और पूँजीवादी शासनतन्त्र को क़ायम रखने के लिये चलाई जाती है। ज़मीदार की सलामी और सरकारी टैक्स देने, साल भर के लिये खाने पहनने का सामान करने और बाप दादा के जमाने के ऋण का शोध करने के बाद किसानों के पास कानी कौड़ी नहीं बचती। तब दूसरे साल फ़सल बोने का खर्च कहाँ से आये। बाध्य होकर किसान को महाजन को आगे हाथ फैलाना

पड़ता है। साम्राज्य, सामन्त और सेना से उत्पीड़ित किसान के आगे साहूकार आकर थैली लिये खड़ा होता है। खेत जोतने के पहले ही साहूकार फ़सल का बँटवारा कर लेता है। इसलिये गाँव की अर्थनीति में ज़मीदार के साथ महाजन और व्यापारी का भी कुचक्र चलता रहता है। बहुधा ज़मीदार महाजन होता है और महाजन, व्यापारी और ज़मीदार के स्वार्थ बिलकुल मिले जुले होते हैं। इन्हीं तीन खूटियों पर औपनिवेशिक रक्तशोषण की दागबेल रखी जाती है। ब्रिटिशभारत में जितनी भूमि पर खेती होती है उसके अर्ध भाग और देशी राज्यों की समस्त भूमि पर थोड़े से ज़मीदारों का अधिकार है। बाकी भूमि पर ब्रिटिश सरकार की सत्ता है। अर्थ संकट बढ़ते जाने के साथ-साथ कच्चे माल के दाम घटते जाते हैं। आमदनी कम होने के कारण किसान लगान और सूद नहीं दे सकता। पूँजीवाद का शिकंजा उस पर अधिकाधिक कसता जाता है। जिस कच्चे माल को तैयार माल में परिवर्तन करने के लिये पूँजीवाद का जन्म होता है वह जितने ही सस्ते दामों में खरीदा जा सके और मज़दूरों को जितनी कम मज़दूरी दी जाय उतना ही पूँजीवाद के हित में अच्छा होगा। ज़मीदार और साहूकार के बोझ से तंग आकर किसान पूँजीपति के हाथों जल्दी से जल्दी माल बेंच देता है। और जिस कच्चे माल को वह सस्ते दाम पर बेंचता है उसी को तैयार माल के रूप में उसे बहुत मँहगे दाम पर ख़रीदना पड़ता है।

भारतीय किसान की दूसरी कठिनाई है खेती के आधुनिक साधनों का उसके पास न होना। परन्तु पूँजीवाद का तो लक्ष्य ही है किसान से सस्ते दामों पर माल खरीदना और मँहगे दामों पर तैयार माल बेंचना। इसके लिये किसान की अर्थनीति उसे अपने पंजे में रखनी

होगी। हमारे देश में एक प्रकार से दोहरा शोषण चक्र है। विदेशी पूँजीवाद और देशी पूँजीवाद दोनों का संयुक्त शोषण भारतीय किसान को निचोड़ता है। पुलिस सेना और सरकारी कर्मचारियों की एक बड़ी तादाद किसान के सिर पर रहनी ही चाहिये और उनका खर्च चलाने के लिये किसान की ही जेब तराशी जाती है। गाँव के चौकीदार और पटवारी से लेकर बड़े बड़े हाकिमों तक सब के हक़ बँधे हैं और किसान उन्हें अदा करता है। परन्तु इन सब के बदले किसान को क्या मिलता है? राष्ट्र का कर्तव्य है टैक्स के बदले करदाता के हित के लिये कुछ करे—किसान की उत्पादिका शक्ति को बढ़ाये। परन्तु ऐसा करना विदेशी पूँजीवाद के लिये घातक होगा। इन सब परिस्थितियों के कारण किसान को महाजन का आश्रय लेना पड़ता है। और जब सभी किसान को चूस रहे हैं तो महाजन ही क्यों पीछे रहे। इन सब शोषणों से चुस कर अन्त में किसान अपने श्रमशक्ति रूपी माल को खेती में न लगाकर पूँजीवाद के बाज़ार में बेंचने आ जाता है अर्थात् खेती छोड़कर शहरों में—मिलों में मज़दूरी करने आता है।

किसान धनी भी होते हैं—मध्यवित्त भी और ग़रीब भी। यद्यपि अब दरिद्र किसानो की तादाद बहुत बढ़ गई है फिर भी खाते पीते किसानों का स्वार्थ उनसे भिन्न है। अपनी गाय, भैंस और ज़मीन की रक्षा के लिये उसके मन में एक प्रबल मनोरथ होता है। मार्क्सवादी का कहना है कि निजी सम्पत्ति की यह माया ही किसानों में श्रेणी चेतना पैदा नहीं होने देती और फलस्वरूप वे संघबद्ध नहीं हो सकते। भारतीय किसान भविष्य की ओर नहीं देख सकता। वह हमेशा अतीत के गान में मस्त रहता है। उन पिछले दिनों की याद में वह मगन रहता है जब उसके पुरखे अपने छोटे छोटे खेतों में अल्प उत्पादनशील

औज़ारों से खेती करते थे जब ज़मीदार सतयुगी होते थे और उनके यहाँ लड़के लड़कियों की शादी में किसानों को दावत खाने के लिये निमंत्रित किया जाता था। प्रेमचन्द का किसान दुनिया को आगे न बढ़ने देगा—नये-नये यन्त्रों और उत्पादन प्रणाली से खेती न करना चाहेगा। शोषण को मिटाने में वह मज़दूर के साथ नहीं है। वह दुनिया को पीछे लौटाना चाहता है। गण-आन्दोलन में भी उसकी प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थ की ओर झुक जाती है।

प्रेमचन्द का साहित्य किसानों की इन्हीं अवस्थाओं और संस्कारों का दृश्य रूप है। प्रेमचन्द की भावना एक क्षण के लिये भी समाज निरपेक्ष नहीं हुई और वह सदैव समाज में प्रतिष्ठा पाये हुए स्वरूप में ही मूर्तिमान हुई है। समाज के सारे आन्दोलनों और हलचलों, असंगतियों और विरोधों का प्रतिबिम्ब उसमें अनुवाद या प्रतिवाद के रूप में पड़ा है और अत्यन्त शान्त, सयत और आत्म-प्रच्छन्न रूप में पड़ा है। सामाजिक परिस्थितियों में उलझे हुए मानव के धार्मिक, आचारिक और नैतिक विचार कैसे बनते बिगड़ते हैं, यह प्रेमचन्द की कृतियों को पढ़ कर स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय किसान और श्रमिक की आत्मा और उसके हृदय के रहस्यों को व्यक्त करने में प्रेमचन्द अद्वितीय हैं। उनके यहाँ विचित्र घटनायें नहीं होतीं। असाधारण और आदर्श चरित्र नहीं होते। उनके उपन्यास जीवन कथा होते हैं जिनमें हम नायक और नायिकाओं को भिन्न भिन्न पर रोज आने वाली परिस्थितियों में, सुख और दुःख, मैत्री और द्वेष, निन्दा और प्रसंशा, त्याग और स्वार्थ के बीच से गुजरते हुए देखते हैं—उसी तरह जैसे हम स्वयं उन्हीं अवस्थाओं, आन्तरिक और

बाह्य स्थितियों और 'क्राइसिसों' में होकर गुजर रहे हों। एक ही भारतीय किसान, एक ही चरित्र नई नई दशाओं में पड़ कर इस तरह स्वाभाविक रूप में हमारे सामने आता है कि हमें कहीं असंगति नहीं लगती। जिसे Interpretation की कला कहते हैं वह प्रेमचन्द में कूट कूट कर भरी है। रोमा रोलाँ के क्रिस्टोफर ने एक जगह साहित्य पर अपने जो विचार प्रकट किये हैं वे प्रेमचन्द पर पूर्ण रूप से लागू होते हैं और प्रत्येक प्रगतिवादी के लिये साहित्य निर्माण में शीर्ष-प्रतीक हो सकते हैं:—"आज कल के लेखक अनोखे चरित्रों के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते हैं। उन्होंने स्वयं अपने को जीवन से पृथक कर लिया है। उन्हें छोड़ो और वहाँ जाओ जहाँ स्त्री और पुरुष रहते हैं। रोज का जीवन, रोज मिलनेवाले मनुष्यों को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भी गहरा और प्रशस्त है। हम में जो सबसे तुच्छ है उसकी आत्मा भी अनन्त है। वह अनन्त प्रत्येक मनुष्य में है—जो अपने को सीधा सादा मनुष्य समझता है, प्रेमी में, मित्र में उस नारी में जो शिशुजन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसववेदना से चुकाती है—हर एक स्त्री और हर एक पुरुष में जो अज्ञात बलिदानों में अपना जीवन व्यतीत करते हैं—यही जीवन की धारा है जो प्राणों में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है। इन्हों सीधे सादे मानवों की, सरलता की इन्हीं सन्तानों की सीधी सादी कथा लिखो, उनके आने वाले दिनों और रातों के सुखद काव्य की रचना करो। तुम्हारी कथा जीवन के विकास की तरह ही सरल होनी चाहिये। शब्दों और अक्षरों, सूक्ष्म व्याख्यानों और प्रवचनों पर अपना समय मत नष्ट करो। यह क्रिया वर्तमान कलाकारों की शक्ति का दुरुपयोग कर रही है। तुम सर्वसाधारण के लिये लिखते हो—

सर्वसाधारण की भाषा में लिखो, शब्दों में अच्छे बुरे शिष्ट और बाजारू का भेद नहीं है—न शैली में सौम्य और असौम्य का भेद है। हाँ ऐसे शब्द और ऐसी शैलियाँ अवश्य हैं जो उन भावों को नहीं खोलती जो वह खोलना चाहती हैं। जो कुछ लिखो एकचित्त होकर लिखो। वही लिखो जो तुम सोचते हो। वही लिखो जो तुम समझते हो। वही कहो जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामंजस्य को अपनी रचनाओं में प्रकट करो। शैली ही आत्मा है।"

रोलाँ के उपरोक्त शब्दों में प्रेमचन्द की कला का रहस्य भरा है। वह उछल कूद, वह तोड़ मरोड़, गर्जन तर्जन, 'एकरोबेटिक्स', वह कृत्तिम गुलकारी, वह बाज़ार में बिकने वाले चुटीलों की सजावट, नवीनता पैदा करने का वह सचेष्ट प्रयत्न नहीं है जो अक्सर विलास और और मनोरंजन की वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कलाकार किया करते हैं। कला शास्त्रियों के बनाये सिद्धान्तों से जैसे उन्हें कोई मतलब नहीं है। पाठकों के मनोरंजन करने का उनका सस्ता उद्देश्य नहीं है। उनकी कला का उद्देश्य मनोरहस्य और बाह्य सामाजिक और आर्थिक संघर्षों के अतल में बहने वाले स्रोतों को समझाना है—जिस तरह वह स्वयं मनुष्यों को देखते और समझते हैं। वे आशावादी है—मनुष्य के भविष्य में उन्हें अटल विश्वास है। मानव समाज में व्याप्त द्वेष, विरोध, वैमनस्य, ग़रीबी, बेकारी, शोषण, प्रपंच और छलना का रहस्य वे झलकाना चाहते हैं। वे यथार्थवादी है लेकिन उनका यथार्थवाद फ्रेन्च और अमेरिकन यथार्थवाद नहीं है। उनकी उदार आत्मा किसी वस्तु को कलुषित रूप में नहीं देखती। जहाँ वे किसी का मज़ाक उड़ाते हैं या उपहास करते हैं—हेय ठहराते हैं—वहाँ उनका उद्देश्य शिव होता है। अन्याय देख कर उन्हें क्रोध आता है परन्तु यह क्रोध

अन्याय से संग्राम करने के लिये प्रेरणा देता है—अन्यायी से घृणा करने के लिये नहीं। रोलाँ ने एक जगह लिखा है—मानव समाज की बुराइयों को दूर करने की चेष्टा प्राणी मात्र का कर्तव्य है। जिसे अन्याय को देख कर क्रोध नहीं आता वह यही नहीं कि कलाकार नहीं है —वह मनुष्य नहीं है।

प्रेमचन्द की लोकप्रियता का एक रहस्य मेरी समझ में उनकी 'ह्यूमेनिज्म' है। जहाँ भी उन्हें अन्याय और उत्पीड़न दिखा वहीं उनकी लेखनी में कशाघातों का प्रवाह उमड़ आया। ज़मीदार ने किसान पर, महाजन ने ऋणी पर, पुलिस, पटवारी, राज्य कर्मचारियों ने निरीह, अशिक्षित और अन्धविश्वासी जनता पर, पुरोहित, पंडों और धर्मगुरुओं ने भोले भाले, परम्परागत संस्कारों में पले और संशय, तर्क और बौद्धिक चेतना से रहित जनसाधारण पर, नर ने नारी पर, निरीह पशुओं पर जहाँ कहीं भी अन्याय किया वहीं उनका विद्रोह जाग उठा है। केवल विध्वंस की भावना से उत्तेजित होकर ही उन्होंने सदियों पुरानी रूढ़ियों को ध्वस्त त्रस्त नहीं किया। इन आदमखोर इमारतों को केवल सस्ती, लेखकोचित उच्छृँखलता के कारण ही उन्होंने नहीं ढहाया। उनका विश्वास था कि जन मानव, सामाजिक मानव या सामूहिक मानव से बढ़कर महान, सशक्त और पवित्र और कुछ नहीं है। साथ ही वे जानते थे कि सामाजिक सत्य के द्वारा ही—सत्य के दुराव से नहीं—सत्य की उपलब्धि होती है।

प्रेरणा और आदर्श का संघर्ष, बौद्धिक विश्वासों और सामाजिक आदर्शों के अर्ध-जाग्रत instinct के साथ चलने वाला द्वन्द, जनता, समाज, देश और मानव जीवन का दुखद द्वैत, सब का चित्रण

प्रेमचन्द ने किया है। वे मनुष्य को समझने की चेष्टा करते हैं—उसे घेरे हुए समस्त अन्यायों के उद्गम तक पहुँचना चाहते हैं—मानव आत्मा में एक रिडीमिंग फीचर' का प्रवेश कर, उसकी संकीर्णताओं को दूर करके एक समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। एक समय मनुष्य की सामाजिक बुद्धि ने अपनी सुविधा और सुख के लिये कुछ संस्थायें बना ली थीं। ऐसे ही तो सभ्यता की नींव पड़ी थी। न्याय और कानून आगे आये। परन्तु मानव केवल बुद्धि-युक्त पशु ही तो नहीं है। वह परिवर्तनशील भी है जो पीढ़ी दर पीढ़ी बदलता जाता है। फिर प्रगति कहलाने वाले विकासवाद में मानव क्यों भूल जाता है कि सब संस्थायें समाज के हित—सामूहिक कल्याण के लिये हैं—शोषण के लिये नहीं। दूसरी ओर आचारिक नैतिकता के जिन मापदन्डों ने एक समय समाज की दुर्नीति मूलक मनोवृत्तियों को संयमित किया था वे आज क्यों निष्प्राण हो रहे हैं। वे समाज के लिये न होकर क्यों समाज उनके लिये हुआ जारहा है और उनकी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों पर क़ुरबान किया जाता है। प्रेमचन्द इन्हीं मनोरहस्यों और सामाजिक रहस्यों को समझाते हैं।

प्रेमचन्द के पहले तक जो स्वान्तः सुखाय वाली मनोवृत्ति कला के विकास के लिये उत्तम समझी जाती थी उसे उन्होंने आजीवन स्वीकार नहीं किया। शौकिया लिखना, कला पर जीविका का भार न डालना, और जनरुचि के पीछे चलने से कला को दूषित मानना यह सब उन्हें मान्य नहीं था। कला को वह स्वच्छन्द नहीं मानते थे। यहाँ भी रोमारोलाँ के शब्दों में ही हम प्रेमचन्द का दृष्टिकोण उपस्थित करेंगे। "जिस कला पर जीविका का भार नहीं वह केवल शौक है, केवल व्यसन है, जो मनुष्य अपनी बेकारी का समय काटने के लिये किया करता है। वह केवल मनोरंजन है, दिमाग की थकन मिटाने के

लिये। जीवन की मुख्य वस्तु कुछ और है; मगर सच्चे कलाकार की कला ही उसका जीवन है। इसी में वह अपनी सम्पूर्ण आत्मा से भरता है, लिपटता है। अभाव की उत्तेजना के बगैर कला में तीव्रता कहाँ से आयेगी। व्यसन खिलौने बना सकता है। मूर्तियों का निर्माण करना उस कलाकार का काम है जिसकी सम्पूर्ण आत्मा उसके काम में हो। तभी उसके आवेग और मनोभाव मुक्त हो सकेंगे और उसकी चेतन प्रतिभा भूत की स्मृतियों से आच्छादित न होगी।"

त्याग अथवा प्रेम मनुष्यत्व का मूल है और मनुष्यत्व में कला का मूल है। मनुष्य किसी बाहरी शक्ति से संसार में ठेल नहीं दिया गया — वह स्वयं अपने से ही विकसित हुआ है। जीवन शक्ति के प्रवाह और विकास में मनुष्य तो एक स्टेज है। समग्र विश्व से उसका घनिष्ट और रक्त माँस का सम्बन्ध है। मनुष्य के साथ मनुष्य का स्वाभाविक सम्बन्ध है। चाहे वह उच्च हो या नीच, महात्मा हो अथवा दुराचारी। एक दुराचारी का जीवन, उसका सुख-दुख, आशा-निराशा और उत्थान-पतन हमारे लिये उतना ही घनिष्ट है जितना एक सदाचारी महापुरुष का जीवन। सत् और असत् का प्रश्न जब मनुष्य के जीवन से है तो वह साहित्य और कला पर लागू होगा। सत् वही तो है जिसमें मनुष्य का यथार्थ रूप प्रकट हो। मनुष्य का यह यथार्थ रूप है उसका स्वातन्त्र्य चाहे वह शासन संस्था, समाज या व्यक्ति किसी क्षेत्र में हो। सच तो यह है कि समाज स्वातंत्र्य या समाजवाद के भीतर से ही सच्चे व्यक्ति स्वातंत्र्य का उदय होता है। यह स्वतंत्रता किसी क्षेत्र में क्रान्ति अर्थात् आमूल परिवर्तन के बिना नहीं आ सकती।

प्रेमचन्द के लिये साहित्य प्रगति का पर्याय था। साहित्य का अर्थ ही उनके लिये प्रगति और दूसरे शब्दों में मानव की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शोषणों से मुक्ति था। ऐसा साहित्य दृष्टिदाता

और शक्ति-विकीरक होगा जिसके प्रकाश में मानवता अपने को देखेगी और कसौटी पर कसेगी। वस्तुतः साहित्य जीवन का शृङ्गार नहीं खाद्य है। सामाजिक आत्मविरोधों और असंगतियों की द्वन्दात्मक जटिलता, कटुता, पंकिलता, वैमनस्य, संघर्ष विघर्ष के बीच, भ्रमात्मक विश्वासों और अन्ध श्रद्धाओं, पथरुद्ध जीवन धाराओं और चेतना-बोधों से होकर साहित्य समाज को आत्मदर्शन और आत्मपरिष्करण का सन्देश देता है। समाज की सामूहिक चेतना उसमें प्रकाशित और विकसित होती है। प्रेमचन्द की साहित्य के बारे में यह धारणा किताबी नहीं थी। उनका सम्पूर्ण साहित्य पुकार पुकार कर यही कहता है। जीवन की ऐसी भरी भरी पूर्णता उनके बाद फिर किसी के साहित्य में नहीं दिखी। प्रत्यक्ष समाज जीवन के साथ—उसकी एकतारता के साथ ऐसा निकट का सम्बन्ध फिर नहीं स्थापित हो सका। जीवन के सामाजिक आदर्शों का माध्यम बनकर यथार्थ इतनी सजीवता के साथ साहित्य में फिर कब आ पाया?

अपने एक भाषण में प्रेमचन्द ने कहा था—समाज का वर्तमान संगठन दूषित है। दुःख दरिद्रता, अन्याय, ईर्षा, द्वेष आदि मनोविकार जिनके कारण संसार नरक समान हो रहा है—इनका कारण दूषित समाज संगठन है। 'सोशियालोजी' के साथ साहित्य भी इसी प्रश्न को हल करने में लगा है। परन्तु प्रेमचन्द का हल हमें कहाँ ले जाता है? उनके साहित्य का सम्पूर्ण योगात्मक जीवनवाद हमें कौन सा हल देता है। मनुष्य की सभ्यता में उसके आन्तरिक मंगल का उत्तरोत्तर विकास चाहने वाले, जड़वाद के निकट ही एक मानवीय प्रयत्नवाद की दार्शनिक भूमि पर खड़े होने वाले प्रेमचन्द का क्रियात्मक केन्द्र हमें कौन सा प्रकाश देता है? जिस बड़ी क्रान्ति के किनारे आज मानव जाति खड़ी है उसका सच्चा रूप देखते हुए भी क्या कोई

वैज्ञानिक राह जो जल्दी से जल्दी हमें वहाँ तक पहुँचा दे वे निकाल सके ! गोर्की ने एक जगह लिखा है—वर्तमान समय कला के प्रश्न को वास्तविकता के अत्यन्त निकट ले आने का, साहित्य को क्रान्तियुग की आत्मा में पैठने का है, जिस आत्मा का सार तत्व सामाजिक क्रान्ति है। जीवन के मायने ही क्रान्ति कर्म में जुट जाना है। आज के दिन इससे अतिरिक्त कोई मायने जीवन के हो ही नहीं सकते। जनता में अधिकाधिक प्राण फूँकते हुए भी क्या प्रेमचन्द ऐसी जन क्रान्ति को ध्येयाश्रित बना पाये हैं ! किसी भी आदर्श की प्रतिष्ठापना अपने आप नहीं हो जाया करती और न उसके विरोधी तत्वों का आप से आप लोप हो जाता है। क्रान्ति केवल तत्वों के पुनः मूल्यांकन में निहित नहीं वरन् वह इस तथ्य में है कि यह मूल्यांकन जिस समाजदर्शन पर आधारित है वह वैज्ञानिक विवेक और समाजवादी आदर्शों को आत्मसात कर सका है या नहीं। मानव स्वभाव और व्यक्तिगत दृष्टिकोण में तात्विक क्रान्ति एक चीज़ है और सामाजिक शक्तियों और क्षमताओं का सामूहिक रूप से आगे बढ़कर श्रेणियों की आर्थिक व्यवस्था में उथल पुथल करना, औद्योगीकरण के प्रश्न को उसके उचित और ऐतिहासिक, द्वन्दात्मक एवं विशुद्ध भौतिक स्वरूप में देखना यह दूसरी बात है। प्रेमचन्द इस दृष्टि से हमें कहाँ तक आगे ले गये और उनके बाद हमें कौन सा मोड़ लेना है अब इस पर विचार करना है। उनकी कृतियों से हम समस्याओं से परिचित होते हैं—जन-जीवन की कटुताओं का सामना करते हैं परन्तु डाक्टर रामविलास शर्मा के शब्दों में परिणाम खोजने में उनकी अतार्किकता और आदर्शवादी दृष्टिकोण को समझकर आगे के लिये सचेत भी हो सकते हैं।

प्रेमचन्द पर गाँधीवाद का प्रबल प्रभाव है। समाज के इतने विभिन्न स्तरों का व्यापक ज्ञान होते हुए भी एक जातीय-धार्मिक

संस्कारवाद उनकी कृतियों पर फैला है। परन्तु मार्क्सवादी दर्शन का मर्म है मनुष्य और उसके टेढ़े-मेढ़े क्रम-विकास और कला को सुधारवाद का तरीका न मानकर आक्रमण करने का तरीका मानना। प्रेमचन्द की दृष्टि गान्धीवादी आदर्शवाद को भेद कर आगे नहीं जाती। उनका मशीन विरोध, नैतिक और आचारिक मूल्यों पर अधिकाधिक ज़ोर, राजनैतिक और सामाजिक माँगों के वैधानिक और साम्यवादी आग्रहों की ओर से उनकी उदासीनता, हृदय परिवर्तन की आशा पर उनका विश्वास, ये सब उनकी दृष्टि को धूमिल किये हैं। इसलिये प्रेमचन्द का साहित्य एक क्रान्तिकारी ढंग पर राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल मचवाने के बजाय सामाजिक और मानवीय सेवा पर ही अधिक ज़ोर देता है। परन्तु जीवन की उन बुनियादी शक्तियों को जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिये काम कर रही हैं—मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रान्ति की अनिवार्यता की जड़ें जमाने वाली कोई संगठित योजना वे नहीं दे सके। फ्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है—"इतिहास का ऐसा बहाव है कि अन्त में जो परिणाम निकलना है वह अनेक व्यक्तियों की इच्छाओं के संघर्ष के फल स्वरूप होता है और इनमें से प्रत्येक इच्छा जीवन की अनेक विशेष अवस्थाओं के द्वारा बनी है। इसलिये ऐसी अनेक शक्तियाँ हैं—ऐसी अनेक समानान्तर शक्तियाँ हैं जिनका परिणाम है ऐतिहासिक घटना। यह घटना भी ऐसी शक्ति के द्वारा पैदा हो सकती है जिसका कार्य अज्ञात है, क्योंकि प्रत्येक की इच्छा को अन्य सब बाधा पहुँचाते हैं और जो कुछ निकलता है वह सबकी इच्छाओं से परे। व्यक्ति की इच्छा की पूर्ति नहीं होती और जो परिणाम निकलता है वह होता है सब के कार्यों का फल। इसलिये इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसका मूल्य शून्य है बल्कि उस सम्मिलित परिणाम में सभी की देन रहती है

और उस अंश तक वह उससे सम्बद्ध है"। एंगेल्स की यह उक्ति ऐतिहासिक की दृष्टि से ही नहीं कलाकार की दृष्टि से भी ग्रहणीय है। कलाकार की इच्छा और अनुभूति वस्तु जगत में अन्य मनुष्यों की इच्छा और अनुभूति से संग्रामरत है। इस संग्राम के परिणाम स्वरूप जो आविर्भूत होता है उसकी कोई व्यक्तिगत रूप में इच्छा नहीं करता। वह तो प्रत्येक की अवचेतना में छिपा रहता है। जो कुछ पैदा होता है वह नूतन होता है। उस नूतन के आविर्भाव के लिये व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के संयोग से यदि व्यक्ति का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है तो सक्रिय सामाजिक जीवन को भी, संग्राममुखर, विरोधों से भरे जीवन को भी अभीष्ठ परिवर्तन या क्रान्ति की ओर—विजय पथ पर अग्रसर किया जा सकता है। उस निश्चित परिणाम की ओर कूच करती हुई जनता के लिबास की सक्रिय, युद्ध और खून के कीचड़ से सनी आदर्श रेखायें हमें प्रेमचन्द के साहित्य में नहीं मिलतीं।

जीवन की कठोरता, क्रूरता और घिनौनेपन की ओर प्रेमचन्द की दृष्टि उचित पर्यवेक्षण में, गोदान के बाद जाती और निश्चय ही वे जीवन की प्रगति की मार्क्सवादी व्याख्या करते। 'कफ़न' जैसी तल्ख़ कहानियों का कठोर सामाजिक यथार्थ हमारे साहित्य में एक नये परिवर्तन का जयनाद है। परन्तु वे अधिक जीवित ही न रहे इसलिये प्रेमचन्द को प्रगतिशीलता का हम एक प्रमुख विराम चिह्न मान सकते हैं। उनके बाद कहाँ से कार्य आरम्भ करने से हमारी परम्परा क़ायम रहेगी—वह परम्परा जिसके लिये प्रसिद्ध साम्यवादी क्रान्तिकारी डिमीट्रोफ ने लेपज़िग के न्यायालय में 'रीख़स्टाग फायर ट्रायल' के समय कहा था "I am defending my honour as a revolutionary; I am defending my communist ideology, my ideals, the content and signi-

ficance of my whole life." इसलिये प्रत्येक प्रगतिवादी लेखक को साहित्य में प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित की गई समस्याओं को लेते हुए भी उन्हें वह हल देना होगा जिसकी एक वैज्ञानिक क्रान्तिवादी होने के नाते उससे आशा की जाती है क्योंकि मार्क्सवाद कलाकार के व्यक्तिमन का सामान्य रूप नहीं—वह तो कलाकार की समग्र सामाजिक सत्ता का उपलब्ध सत्य है। और सत्य भी तो अन्ततोगत्वा एक सामाजिक शक्ति है।

प्रेमचन्द ने कहीं भी शा और वेल्स के मिश्रित और पतले—'फेबियन' साम्यवाद पर या समाजवाद पर विश्वास नहीं किया। परन्तु जिस क्रान्ति में वे विश्वास करते थे उसके लिये किसी सामूहिक उद्योग का उन्मेष उन्होंने नहीं पैदा किया। वे शायद व्यक्ति के भीतर से उसकी अपेक्षा रखते थे जिसके जन जन में उदित होते ही महाक्रान्ति समाज की गोद में आ टपकेगी। इसीलिये किसानों का चित्रण और उनकी समस्याओं का जितना निरूपण उन्होंने किया है उतना मज़दूरों की स्थितियों का नहीं यद्यपि मज़दूरों का वर्ग किसानों के वर्ग से ज्यादा क्रान्तिकारी है। प्रेमचन्द यह नहीं समझ पाये कि मशीन ने सामाजिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न की है और जनसाधारण की सुविधाओं को बढ़ाया है। कालान्तर में जो यह समाज-योजना जन-जीवन की सामूहिक गति में बाधक होने लगी उसका कारण मशीनवाद (Industrialisation) नहीं वरन् पूँजीवाद है जो वैयक्तिक मुनाफे पर आधारित है। इसीलिये मशीनवाद ने सृष्टि की जिन शक्तियों को मुक्ति दी उन पर केवल एक वर्ग स्वेच्छाचार करता रहा। इस लिये समस्या का हल मशीनवाद को समाप्त करने से न होगा। इस वर्ग-विशेष के हाथ से अधिकार छीन कर जनता के हाथों में सौंपने होंगे। तभी तो आज के प्रगतिवादी साहित्य में शोषित वर्गों को अधिक

प्रतिहिंसा और ताक़त से अपना सिर उठाना होगा। अत्याचारियों और शोषक वर्ग के प्रति स्वीकृति और सहयोग का भाव त्याग कर एक कठिन द्वन्द और युद्ध का भाव जाग्रत करना होगा।

प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को एक नई और युग-प्रवर्तिका दृष्टि दी है। उनका कैनवस इतना विराट है कि देख कर हैरत होती है। इस दृष्टि से वह टाल्सटाय, रोलाँ, और गाल्सवर्दी की जाति के कलाकार हैं। उन्होंने इस बात को समझा और समझाया कि व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध, उनकी इच्छायें—आकांक्षायें, भावनायें और चेतनायें बराबर गतिशील रहती हैं। क्योंकि इन सबों का आधार, उत्पादन वितरण का आर्थिक ढाँचा कभी भी गतिहीन नहीं रहता। छोटी से छोटी क्रिया का भी असर सामाजिक संगठन पर पड़ता है— भले ही हम उसे जान न पायें। प्रेमचन्द संस्कृति, साहित्य, सभ्यता, धर्म, राजशक्ति आदि को सामाजिक उपकरण समझते थे और उन सब को समाज के सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति मानते थे। इन सब को कभी सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति या सामाजिक शक्तियों के अतिरिक्त उन्होंने मानसिक विलास का साधन नहीं माना। बीसवीं सदी में अपना कार्य-काल आरम्भ और समाप्त करने वाले इस महान साहित्यकार ने फूलों की दूकान नहीं सजाई। जन-जीवन से ऐसी प्रखर आत्मीयता उनके पहले और उनके बाद फिर साहित्य में नहीं दिखी। व्यक्तिगत चेतना के बाहर संसार का जो वास्तविक अस्तित्व है उसे उनसे अधिक किसी हिन्दी कलाकार ने नहीं पहचाना। प्रगति-शीलता और समाजवादी आदर्शवाद की इतनी चर्चा होते रहने और हो चुकने से बाद भी हमारे अधिकाँश कलाकार आज भी दुनिया को अपने अन्तर की प्रतिच्छबि के रूप में ही देखते हैं—अपना मनोजगत ही उनके लिये सत्य है एवं प्रकृति या वास्तव जगत उसका

प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रेमचन्द ने ही सब से पहले यह अनुभव किया और कराया कि समस्त सामाजिक अभावों और अविचारों का सम्बन्ध या लगाव एक अन्यायी सामाजिक व्यवस्था से है। उनका यह निष्कर्ष था कि जो सामाजिक व्यवस्था इन सब अभावों और असंगत विषमताओं को आश्रय देती है वह सिर से पैर तक भयावह और विषाक्त है। उनकी यह मान्यता थी कि सामाजिक व्यक्ति की चेतना और स्वाधीनता को स्फूर्ति मिलने के लिये इस बहिर्जगत को पूर्ण रूप से उपलब्ध करना नितान्त आवश्यक है। जिस स्वाश्रित जीवन की मुक्ति के पीछे 'प्रसाद' जैसे दूसरे बड़े कलाकार आजीवन पड़े रहे, उसे प्रेमचन्द वास्तविक जीवन का अस्वीकरण मानते थे। यहाँ 'राल्फ फाक्स' के शब्द स्मरण आते हैं:—"कला है यथार्थ के आत्मीकरण और उपलब्धि का उपाय। कलाकार अपनी आन्तरिक चेतना की निहाई के ऊपर, वास्तव की गरम धातु पर विचार के दुर्निवार आघात कर उसे नया रूप देता है। इसी रूप में उसकी कला मूर्त होती है। सच्चा कलाकार यथार्थ के साथ अविच्छिन्न संग्राम करता है क्योंकि वह यथार्थ को रूपान्तरित करना चाहता है। जीवन उसके निकट होगा मुख्यत: संग्राम मुखर, सत् और असत् के द्वन्द के बीच से होकर जययात्रा।" प्रेमचन्द पर— उनके साहित्य पर उपरोक्त वाक्य पूर्णरूप से घटित होते हैं। प्रेमचन्द की कला में कहीं भी रीतिबद्धता (dogmatism) नहीं आने पाई। परन्तु आज के कलाकार को—प्रगतिशील कलाकार को प्रेमचन्द धन मार्क्सवादी (प्रेमचन्द + मार्क्सवादी) होना पड़ेगा। मार्क्सवाद की पसंद या नापसन्द का प्रश्न यहाँ व्यर्थ है। वर्तमान समाज व्यवस्था में यदि किसी प्रगतिमूलक दृष्टि से सब विषयों की उपलब्धि करनी है—यदि वर्तमान के समस्त विरोध और कुसंस्कार (dogma) को निर्मूल करना है तो मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और

समाज दर्शन को स्वीकार करने के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। मार्क्सवाद समाज और अर्थ-नीति, उसकी उत्पत्ति, विकास और वितरण के समस्त विरोधों को मानकर उनके विरुद्ध अविरत संग्राम करता है और समाज, सभ्यता और संस्कृति के अग्रगमन का संचालन करता है। सामाजिक, मानवीय और व्यक्तिगत यथार्थ को उच्चतर यथार्थ में परिणत करने का सन्देश और योजना उसी के पास है। यहाँ निराशा का अवसाद-युक्त अन्धकार नहीं आशा और विश्वास का वज्रघोष है। इतिहास की भाँति साहित्य भी भविष्य में होकर गुजरता है।

प्रेमचन्द की कलात्मक विशेषताओं के लिये क्या कहा जाय! कहानियाँ उन्होंने ऐसी ऐसी लिखी हैं जो भारतीय साहित्य में बे जोड़ हैं। प्रेम कहानियाँ, ऐतिहासिक कहानियाँ, पशुजीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ, कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन की सजीव कहानियाँ, हास्यरस की कहानियाँ उनकी कहानियों के इतने प्रकार हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। हिन्दी की कहानियों में उनकी लिखी जितने प्रकारों की कहानियाँ हैं वे सब अपने अपने प्रकार में सर्वोत्तम कहानियाँ हैं। 'रानी सारन्धा' की कोटि की ऐतिहासिक कहानी हिन्दी में नहीं है—'दो बैलों की कथा' जैसी पशुजीवन से सम्बन्ध रखने वाली कहानी हिन्दी में नहीं है—'बूढ़ी काकी' जैसी बुढ़ापे की विकृतियों और दुर्बलताओं का कारुणिक चित्र खींचने वाली कहानी हिन्दी में नहीं है। मोटेराम शास्त्री सीरीज में लिखी गई उनकी कई हास्यरस की कहानियाँ हिन्दी में बेजोड़ हैं। कहानी के क्षेत्र में ऐसी बहुमुखी प्रतिभा—ऐसा सर्वतोमुख जीवन-दर्शन और जगत अनुशीलन भारतीय साहित्य में एक घटना है। केवल कला की दृष्टि से ही उनकी पचास साठ कहानियाँ ऐसी निकलेंगी जो 'इन्टर-नेशनल गैलरी' में जा सकती हैं। उनके उपन्यासों में भी समाज जागृति, समाजानुभूति, समाज-साधना और समाज-दर्शन का चित्रण

है। परन्तु प्रेमचन्द के साहित्य के इन पहलुओं की ओर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने एक पूरी पुस्तक ही प्रेमचन्द पर लिखी है जिसमें उन्होंने आलोचनात्मक विवेचना के भीतर से यह प्रमाणित कर दिया है कि अपने युग में साहित्य और राजनीति दोनों में प्रेमचन्द का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जो शुष्क, आवेगहीन बुद्धि प्रधान, जीवन आलोचना हुई है वह स्वानुभूत दर्शन और स्वार्जित शक्ति का परिणाम है। उन्होंने बुनियादी सामाजिक और मानवीय यथार्थों के चित्र दिये और उनकी इस समर्थता का कारण यह था कि अपने दैनिक जीवन में उन्होंने इस यथार्थ का कभी विरोध नहीं किया। जीवन संघर्ष में वे सदैव प्रगतिशील पक्ष के साथ थे और गान्धीवादी भावुकता और स्वप्नशीलता (यूटोपिया) से निकल कर यदि वे जीवन से भावात्मक निष्कर्ष निकालने के बजाय समस्याओं का मार्क्सवादी समाधान देते तो दुनिया के बड़े से बड़े लेखक की महानता उन्हें मिलती। प्रेमचन्द यह भूल गये कि गान्धीवाद के कार्यों के प्रभावों ने सदैव उसी वर्ग की जड़ें मजबूत की हैं जिनकी जड़ें खोदने का उद्योग करते वह दीखा है। प्रश्न करने पर अपनी असफलताओं की सारी जिम्मेदारी वह समाज पर छोड़ देता है। गाँधीवाद का मशीन विरोध, उसकी खद्दर की वकालत, जनता को उसके बार बार आदेश कि वह अँगरेज़ और भारतीय पूँजीपतियों के हृदय परिवर्तन की प्रार्थना करे यह सब दुनिया की सबसे बड़ी शोषित जनता के साथ कैसा बेरहम मज़ाक है यह प्रेमचन्द पूरा पूरा नहीं अनुभव कर सके। गाधी जी ने देश के प्रगति-चिन्ह, अभ्युदयशील राजनैतिक जन-आन्दोलनों को केवल व्यक्तिगत सनक के लिये बार बार पीछे हटने का आग्रह किया है यह प्रेमचन्द

की सजग दृष्टि से कैसे छिपा रहा ? गाँधीवाद ने जनता की सामूहिक शक्ति को सदैव ही देश के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम की विरोधी धारा में प्रवाहित किया है और ब्रिटिश पूँजीवाद के साये के नीचे देशी पूँजीवाद की जड़ें बराबर पनपती रही हैं। इतिहास और समय की शक्तियाँ वर्तमान सामाजिक ढाँचे को नष्ट करने और एक श्रेणीविहीन समाज स्थापित करने का जैसा प्रबल आग्रह कर रही हैं वैसा उनके साहित्य में मुखरित न हो सका। यदि यन्त्र युग के साथ गुलामी का प्रश्न ज्यादा पेचीदा और टेढ़ा हो गया है—गुलामों पर शारीरिक सख्तियाँ कम होने लगी हैं पर आर्थिक शोषण की फाँसी का फन्दा और कस दिया गया है—जहाँ कोड़े थे वहाँ कम मज़दूरी और उसमें कटौती आगई है—जहाँ धार्मिक नैतिक बहिष्कार था वहाँ एक तिक्त असहनीय सामाजिक घृणा आगई—जहाँ ब्राह्मण और शूद्र थे वहाँ 'प्रोलेतेरियत और बुर्जुआ' हो गये—तब पीछे लौटने से और 'काटेज इन्डस्ट्री' को पुनर्चालित करने से कैसे समस्या का हल होगा ? संभव है राजनैतिक जन आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग न लेते रहने, श्रमिक आन्दोलनों के साथ व्यावहारिक रूप से सम्बद्ध न होने से यह चेतना वे नहीं ला सके और वैज्ञानिक क्रान्तिवाद का लक्ष्य और पद-निर्देश अपने साहित्य में नहीं उभार पाये। परन्तु यह भी सत्य है कि यदि वे सक्रिय राजनैतिक कार्यकर्ता होते—अपनी शक्ति और समय उधर भी लगाते जो अपने पीछे सामाजिक-शक्ति, सत्य और साहित्य की ऐसी गौरवशाली परम्परा न छोड़ जाते।

साहित्य और क्रान्ति की परम्परा

परिवर्तन और क्रान्ति दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। भले ही लोग इनका एक अर्थ लगाते हों परन्तु क्रान्तिकारी साहित्य के लिये क्रान्ति का अर्थ परिवर्तन से अधिक है। परिवर्तन तो अधिक उन्नति के लिये हो सकता है और अधिक अवनति के लिये भी। परन्तु क्रान्तिकारी साहित्यिक जीवन भर मानव-समाज की अधिक उन्नत अवस्था लाने के लिये संघर्ष करता है। यदि परिवर्तन से उन्नत अवस्था के विपरीत परिस्थितियाँ पैदा हो गई तो क्रान्तिकारी साहित्यिक या राजनीतिज्ञ का परिश्रम व्यर्थ जायगा। उसके लिये क्रान्ति का अर्थ वह परिवर्तन होगा जिसके कारण मनुष्य समाज के सामने अधिक उन्नति देने वाली परिस्थितियाँ पैदा होंगी। यदि क्रान्ति का सच्चा अर्थ यह है तो मनुष्य को अपने भविष्य के प्रति उदासीन न होना चाहिये। आज की सामाजिक व्यवस्था जिसके बीच मनुष्य रह रहा है न जाने भूत की कितनी क्रान्तियों का परिणाम है। उसे इन पिछली क्रान्तियों से आनेवाली क्रान्तियों के लिये सबक लेना है। पिछली क्रान्तियों को यदि मनुष्य इतिहास में देखे तो उसे उनका कारण ज्ञात होगा। सही क्रान्तियों का कारण सदैव एक होता है—जब मनुष्य उन सामाजिक परिस्थितियों से जिनके बीच वह रहता है ऊपर उठ जाता है और कोई लाभ नहीं उठा पाता तो उन्हें हटाने की चेष्टा करता है। दूसरी ओर समाज में एक वर्ग ऐसा होता है जिसे किसी खास व्यवस्था को कायम रखने से निजी लाभ होता है। वे लोग पूरी शक्ति लगा कर उस व्यवस्था की रक्षा करते हैं। इसलिये

नई व्यवस्था का निर्माण करने वाले लोगों को ऐसे स्थिर-स्वार्थी वर्ग से सजग रहना पड़ता है। क्रान्तिकारी साहित्य का एक कार्य इस सजगता को क्रान्ति की सफलता के लिये पैदा करना होगा। आज भारत में साम्राज्यवादी व्यवस्था के बदले यदि राष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था कायम हो जाय तो यह क्रान्ति न होगी। कारण जनता की सामूहिक उन्नति इससे न हो सकेगी।

उपयोगितावादी समाज में हमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के त्याग पर विलाप नहीं करना चाहिये। जिस वस्तु की बलि दी जा रही है वह स्वतंत्रता नहीं उच्छृंखलता है। सच्ची स्वतन्त्रता का जन्म उसके दूर होने के बाद होगा। सम्पूर्ण ही स्वतन्त्र होता है। अंश कभी नहीं। उसे दूसरे अंशों के साथ सम्बन्ध रखना होता है। मनुष्य उसी हद तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह अपने आपको सम्पूर्ण के सहयोग में रक्खे। स्वतंत्रता और व्यक्तित्व के अधिकार इसी सम्पूर्ण के माध्यम से माँगे जाने चाहिये। साहित्य में क्रान्ति की सच्ची और तत्वपूर्ण परम्परा मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वहीं से स्थापित होती है जहाँ व्यक्तिवाद की परिधि से निकाल कर साहित्य की शक्तियों को समाजवाद की भूमि पर ले जाया जाता है। तभी साहित्य में सहितता का—सबको साथ ले चलने का उद्देश्य पूर्ण होगा। तभी वह जनता में अधिकाधिक प्राण फूँक सकेगा। वह सप्राण होगा और युग के आघातों को झेल सकेगा। तभी वह सच्चे अर्थों में जन-साहित्य होगा।

प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—आदिम युग से लेकर आज तक का मानव इतिहास केवल सम्पत्ति-रक्षा का इतिहास है और तभी से समाज में दो बड़े बड़े भेद होते चले आये हैं।.........वही संस्थायें में जिनका निर्माण समाज के कल्याण के लिये किया गया था अन्त में समाज के पाँव की बेड़ियाँ बन गईं। मानव समाज में शक्ति

का स्थापन करने के लिये जो जो योजनायें सोच निकाली गईं वह सभी कालान्तर में या तो जीर्ण हो जाने के कारण अपना काम न कर सकीं या कठोर हो जाने के कारण कष्ट देने लगीं। जो पहले कुलपति था वह राजा बना। उसकी अधिकार तृष्णा बढ़ने लगी। उसकी इस तृष्णा पर समाज का रक्त बहने लगा। अन्त में आदम जाति में इन दशाओं के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न हो गया। बीच बीच में कितनी ही बार ऐसे विद्रोह उठे। हमारे जितने मत हैं सब इसी विद्रोह के स्मारक हैं। किन्तु उन विद्रोहों में कलह की जो मुख्य वस्तु थी वह ज्यों की त्यों बनी रही। संपत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ—या किसी को सूझी ही नहीं। जो इन सारी दुर्व्यवस्थाओं का मूल था वह इतने सौम्य वेश में, धर्म, विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था कि किसी को उसकी ओर सन्देह करने की प्रेरणा भी न हुई।" अपने उसी भाषण में प्रेमचन्द ने बाद में बताया है कि कैसे इसी सम्पत्तिवाद ने 'प्यूरिटनिज्म' का रूप ले लिया और अन्त में वैयक्तिक पूँजीवाद और इतर समाज विरोधिनी प्रणालियों को जन्म दिया। परन्तु साहित्य की रचना करने वाले तो वही होते हैं जो जगत गति से विशेष रूप में प्रभावित होते हैं—जिनके मन में संसार को अधिक सुन्दर, अधिक उत्कृष्ट देखने की महत्वाकांक्षा होती है। नाटककार अनैस्ट टालर अपनी ऐसी ही क्रान्तिकारी धारणाओं के कारण जर्मनी से निर्वासित किया जाता है। नाज़ी निज़ाम उसकी स्वातंत्रता-प्रिय वृत्तियों को स्वीकार नहीं कर सकता। अपने नाटकों की भूमिका में उसने लिखा है—मेरे नाटक मानवी यातनाओं और उन यातनाओं का विध्वंस करने वाले सूक्ष्म किन्तु असफल प्रयत्न के गवाह हैं। यह यातनायें अविवेक से, ऐसी अनुचित समाज व्यवस्था से निर्मित होती हैं। वैसे तो वेदना का कुछ अवशेषांश तो मानव

के साथ बचा रहेगा ही क्योंकि वह मानव पर जीवन और मृत्यु से लादी हुई एकाकी वेदना है। पर यह अपरिहार्य और अनिवार्य केवल वह अवशेषांश ही है—चूँकि वही जीवन की और जीवन को प्रतीकीभूत करने वाली कला की आत्मा है।......इन नाटकों में से चार जेल में लिखे गये थे। बाकी सब सरकार ने ज़ब्त कर लिये थे। आखिर में जब एक डिक्टेटर जर्मनी में शक्तिशाली हुआ, ऐसा डिक्टेटर जिसे उसी के अमानुष उपदेशों को सिर पर लेकर नाचने वाले और आजीवन गुलाम बने रह कर, उसी का कुत्तों जैसा आज्ञा पालन करने वाले लेखकों को छोड़ कर अन्य लेखक सहन नहीं होते,—तब ये सब नाटक चौराहे पर जला दिये गये। टालर आगे आत्मविश्वासपूर्णस्वर में कहता है—परन्तु तानाशाहों की शक्ति भी एक हद से बँधी है। एक विशेष काल के लिये और विशेष देश तक वे मन का खून कर सकते हैं, परन्तु इस सीमा से परे उनका खोखलापन साफ़ नज़र आता है। राज्य सीमाओं से परे शब्दों की शक्ति स्वसंरक्षण कर सकती है और बसा करती है। वही शब्द कालविशेष के बाद एक तानाशाह से भी अधिक शक्तिमान सिद्ध हो सकता है और वह एक तानाशाह से कहीं अधिक काल तक जीता रह सकता है।"

साहित्य में हम क्रान्ति की यही परम्परा चाहते हैं। इसी वैज्ञानिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा जिसमें सामाजिक मानव के मनस्तत्व हों हमें अभीष्ट है। हमारा नारा आज साहित्य में है—साहित्यकार क्यों लिखता है और क्या लिखता है। साहित्य मानव को दूषित करने की चेष्टा नहीं है। सदियों तक हमने महलों और ऐश्वर्य के गुणगान सुने। राजाओं और बादशाहों की गुलकारियों और रण प्रेम की प्रशंसा के पुल बाँधे गये। अत्याचार पीड़ितों और हतभागों के लिये उनकी आँखों में आँसू की एक बूँद—दिल में दर्द की एक टीस नहीं उठी। सदियों तक हमारे

साहित्य में अत्याचारों और अन्यायों के विरुद्ध झूठे मुँह एक बोल नहीं निकला। सन् १८५७ के गदर जैसी बड़ी घटनायें होगईं परन्तु उनके पीछे किसी मानसिक क्रान्ति का हाथ नहीं था। सफल क्रान्ति सब से पहले विचारधारा में आरम्भ होती है अर्थात् पहले वह साहित्य में आती है—समाज की नींवें तो बाद में डगमगाती हैं। इतिहास तो बाद में साक्षी बनता है उस विद्रोहाग्नि का जिसमें दमन और अत्याचार की सब ताकतें भस्मीभूत हो जाती हैं। इस क्रान्ति का धर्म होता है अन्याय का विरोध और कर्तव्य होता है पददलितों को जगाना। अपने आदर्श पर सर्वस्व वार देने का सन्देश वह सुनाती है। उसके निकट मनुष्यता का उद्देश्य न्याय और सत के लिये शहीद हो जाना है। स्वतंत्रता इस क्रान्ति का जीवन मंत्र और पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष का प्रवर्तन उसका लक्ष्य होता है। कान्ट के अनुसार बताये गये भिन्न-भिन्न मतों को (यद्यपि धर्म एक है) काटती कुचलती वह मानव के सामूहिक कल्याण के परमधर्म की ओर आगे बढ़ती है। समाज और जीवन के सम्बन्ध में जो अनियन्त्रित, अनात्मभाव का अन्धकार हमारे मन में फैला है उसे हटाकर क्रान्तिकारी साहित्य युग को सामाजिक नेतृत्व, सामाजिक प्राण और समाजानुभव की दृष्टि देगा। परन्तु आज साहित्य हमारे जीवन में ओत प्रोत नहीं है। हमारे जीवन से अलग एक कुतूहल, एक विलास, एक पलायन के रूप में वह पड़ा है। हम कभी कभी उसे देख लेते हैं। साहित्य जीवन के साथ पनप नहीं रहा। पुष्ट नहीं हो रहा। वह साहित्य जो नव मानव का सृजन करता है- नये इतिहास की रूपरेखा गढ़ता है—आगे पीछे ऊपर नीचे सर्वत्र विचार देकर हमारे जीवन में व्याप्त हो जाता है—मानवीय संस्कृति एवं राष्ट्र की सामाजिक आत्मा को प्रकाशित करता है कहाँ है ? गतानुगति और बन्धनों की पीड़ा और छटपटाहट को चीर कर नये

सन्तरण और नये सृजन का उन्मेष देने वाली हमारी क्रान्तिकारी साहित्य-परम्परा आज शुद्ध प्राणवायु के लिये फिर बेचैन हो उठी है। मानव समाज में जो सर्वश्रेष्ठ है—जिससे सामाजिक प्रगति का संरक्षण और संस्कृति का पालन होता है उसकी अभिव्यक्ति जब साहित्य में ही न होगी तो समाज शास्त्र और जीवन शास्त्र कहाँ रहेंगे ?

किसी भी प्रगतिशील साहित्य में क्रान्ति की परम्परा समाज की घटनाओं में आकर रुकती है। समाज की घटनाओं का मूल प्रधानतः धनोत्पादन की रीति है। समाज का जो वर्ग धनोत्पादन के साधनों का स्वामी होता है वही समाज शासन का सूत्रधार होता है। धर्म और नीति का व्यवहार सत्ताधारी लोग अपनी सत्ता बढ़ाने और चालू रखने के लिये करते हैं। समाज सुधार का रास्ता सुधारवाद और अनुकम्पा-वाद नहीं वरन् संगठन के बल से समाज सत्ता बदल कर उसको बहुजनाभिमुख करना है। तभी प्लेटो की वह आदर्श स्टेट स्थापित हो सकेगी जिसमें न तो गरीबी होगी न अमीरी और जिसका जीवन उच्च्यतम होगा। क्रान्ति की इसी समाजवादी परम्परा ने मानव को नये नये तर्क, विश्वास और जीवन के आधार—निश्चयात्मक आधार दिये हैं। वर्ग (class) ही विचारों का स्थिरीकरण करते हैं और सारे के सारे राजनैतिक आन्दोलन वर्ग आन्दोलन होते हैं और इसी लिये उनकी अन्तिम नीवें आर्थिक होती हैं। आर्थिक मानव की भावना ही आगे बढ़ते बढ़ते आर्थिक मानवसमाज की भावना हो जाती है। क्रान्ति-परम्परा की जिस नई मंज़िल पर आकर आज जीवन और साहित्य की शक्तियाँ ठहरी हैं वहाँ यह बात सर्वमान्य और सर्वसिद्ध हो चुकी है कि आगामी नूतन और स्थाई संस्कृति के मूलाधार और पैदा-वार के साधनों का विशेष सम्बन्ध होगा। साथ ही धर्म की आलोचना

ही सब आलोचना का आरम्भ है यह मार्क्स ने पहले ही कह दिया है। लेनिन ने भी लिखा है :—

Fear of the blind force of capital—blind because its action cannot be foreseen by the masses, a force which at every step in life threatens the worker and the small business-man with 'sudden', 'unexpected', accidental' destruction and ruin, bringing in their train beggary, pauperism, prostitution and deaths from starvation—this is the tap root of modern religion, which, first of all, and above all, the materialist must keep in mind, if he does not wish to remain stuck for ever in the infant school of materialism.

ज्ञानवाद की जिस परिधि में आकर यह परम्परा रुकी है वहाँ जन समूहों के हृदय में सौन्दर्य और आवेग संभ्रम के बजाय अभूतपूर्व समाजशक्ति के महत्व ने स्थान ले लिया है। दूसरी ओर मनुष्य का जीवन आत्यन्तिक रूप से अधिक से अधिक सामाजिक होता चल रहा है और उसका atomic दृष्टिकोण दूर होता जाता है। यह प्रगति-शील समाजशास्त्री के लिये हर्ष का विषय है।

हमारी यह क्रान्तिकारी साहित्य परम्परा सुधारवाद, विप्लववाद अराजकवाद, रोमान्सवाद, व्यक्तिवाद इत्यादि तरह तरह के नवमतवादों के भीतर से होती हुई आज साम्यवाद की समाजवादी भूमि पर आई है। भारतेन्दु के राष्ट्रीय गीतों, भारत भारती से लेकर आज लिखे जा रहे फासिस्ट विरोधी गीतों तक, सेवासदन से लेकर भगवती प्रसाद वाजपेयी

के 'निमंत्रण' और यशपाल के 'देशद्रोही' तक यही सिलसिला चला आया है। हमें अपनी इस परम्परा पर समुचित अभिमान है। परन्तु हम आज एक ऐसी 'क्राइसिस' की स्थिति में आगये हैं जब विवेक और रचनात्मक चेतना से काम लेना होगा। महायुद्ध के बाद सामाजिक और नैतिक विश्रंखला का जो युग योरप में आया उसका चित्रण करते हुए एट्स ने जो कुछ कहा है उससे हमें सबक लेना होगा।

"सब सम्बन्ध टूटते जा रहे हैं, कुछ भी केन्द्रित नहीं हो पाता; संसार में अराजकता ही फैलती जा रही है, रक्तावेश का अन्ध ज्वार उन्मुक्त बढ़ रहा है; सभी ओर सरलता मूलक शुभकर्म डूब गये हैं। श्रेष्ठ जनों का विश्वास सब चीजों पर से उठ गया है। किन्तु निकृष्ट व्यक्ति उत्तेजना की शक्ति से परिपूर्ण हैं।"

तो क्या हमारी भावी विचार भूमि ऐसी ही ह्रासोन्मुख और त्रयी तैयार होगी या हमारे कुछ उद्देश्य हैं जिन्हें लेकर हमारी भावी क्रान्ति का गठन होगा। क्या पूँजीवादी साहित्य और कला की भाँति भविष्य में भी साहित्य में उन परिस्थितियों का प्रभाव बना रहेगा जिनमें मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रधानता मिलती है। या कलाकार से यह सामाजिक माँग की जायगी कि वह अपने सामाजिक कर्तव्य को स्वीकार करे और अपने उस व्यक्तित्व की जाँच करे जिसकी विशिष्ठता सामाजिक दायित्व से अलग जा पड़ती है और अपनी सामाजिक सार्थकता सिद्ध नहीं करती। सामाजिक विषमता, वर्गभेद जैसे मूलतः आर्थिक कारणों ने मानव के सैद्धान्तिक स्तर में दरारें डाल दी हैं। उसका व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े हो गया है। समाज की कल्पना भी ऐसे ही खन्ड खन्ड करके होती है। उसके सब व्यक्तियों को अलग अलग करके समाज को उनका एक साधारण जोड़ मात्र मान लिया जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह खन्ड खन्ड करने की क्रिया, व्यक्तिवाद की यह अशुभ विरासत

हमें छोड़नी होगी। समाज, जीवन और साहित्य को एक अखण्डित ऐक्यपूर्ण और आन्तरिक सजीव संयोग में गूँथी क्रिया मानना होगा। यही हमारी क्रान्ति का विश्वबोध या समाजबोध होगा।

साहित्य सदैव ही सामाजिक जीवन के लिये स्वास्थकर प्रवृत्तियों का दाता माना जाता रहा है। किसी न किसी सामाजिक, नैतिक अथवा राजनैतिक—व्यवहारोपयोगी तथ्य की खोज के लिये किये गये वैयक्तिक प्रयत्न को हम साहित्य कहते हैं। आज भी हम जीवित मानवता की यथार्थता और सत्य को लेकर साहित्य में चल रहे हैं। मानव जीवन का व्यापक प्रकाश तर्कपूर्ण और संबद्ध रूप से साहित्य में प्रकट किया जाता है। मानवता का संगत क्रम पाठक को उसमें मिलेगा। और इसीलिये प्रगतिवाद का आग्रह दिन प्रतिदिन ऐसे साहित्य पर बढ़ता जाता है जो राजनीतिक तथा सामाजिक भावना चक्रों को विराट मानवीय भूमि पर जाकर समझावे। प्रगति का अपना स्वयं एक अकथ तर्क होता है। वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर दौड़ने वाले स्वप्नदर्शियों को यह नहीं भूलना चाहिये कि समाजों का आधार व्यक्तियों के सद्‌गुणों पर नहीं हुआ करता बल्कि एक प्रणाली पर होता है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता को परिमित करके दोषों का निग्रह किया जाता है। परन्तु यह पद्धति सामन्तवाद, पूँजीवाद और साम्यवाद के अन्तर्गत विभिन्न रूप धारण करती है। वीरोचित किन्तु निष्फल विप्लव द्वारा अपना नाश करने की प्रवृत्ति से हमारी क्रान्ति-योजना राजनीति और साहित्य दोनों में आगे बढ़ आई है। आतंकवादी राजनीति का हमारे साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव रहा है परन्तु उसी काल में प्रेमचन्द का उदय हुआ है जिसने साहित्य को सक्रिय सामूहिक प्रयोग का साधन मान कर हमारी क्रान्ति परम्परा को आगे की ओर बढ़ाया है। मानव जाति के

ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य का प्रवेश हमारे साहित्य में उस युग में हो रहा था।

तो हम यह विचार कर रहे थे कि हमारे साहित्य की अन्त: सलिला क्रान्ति परम्परा आज जिस विराम चिन्ह पर आकर ठहरी है उसके आगे का पथ किधर होगा। हम मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष के इतिहास अर्थात् दर्शन के बीच से गुजरते हुए उसके सामूहिक संघर्ष के इतिहास अर्थात् विज्ञान के युग में आ पहुँचे हैं। इसलिये साहित्य में हमें मानव संस्कृति को एक सामूहिक विकास-प्रवाह मान कर चलना होगा। इसलिये आनेवाले उस युग को जो मनुष्य समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निमाण करना चाहता है साहित्य ही सब से पहले वास्तविकता प्रदान करेगा। पशुजीवी युग, कृषि युग, सामन्त युग और यन्त्र युग के बाद अब समता का वह युग आरहा है जिसे हम सामूहिक विकासवाद का युग कह सकते हैं। व्यक्ति की मुक्ति की भावना भारतीय दर्शन पर सामन्तवादी परिस्थितियों के प्रभाव के फल स्वरूप विकसित हुई है परन्तु इस सामूहिक विकासवाद के युग में सामाजिक प्रगति और सामूहिक वास्तविकता का बोध नवीन मानवता का निर्माण करने वाले सांस्कृतिक प्रयोगों में अधिक सार्थकता देखेगा। विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का पुनर्जागरण करके जो साहित्यकार समस्या का हल ढूंढ़ना चाहते हैं वे यदि अपने सिद्धान्तों का मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में ढूंढ़े तो उन्हें अपने प्रयोगों की अवैज्ञानिकता का पता लग जायगा। यहाँ हमारा संकेत जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय जैसे सुलेखकों की ओर है जो व्यक्ति को ही केन्द्र मानकर अपना जीवन दर्शन बनाते हैं और आगे बढ़ कर समस्याओं का सामना करने के बजाय पीछे की ओर भागते हैं। पूँजीवादी महाजनी सभ्यता से उत्पन्न सामाजिक विकृतियों को वैयक्तिक चौखटे में जड़ कर हमारे ये भावनावादी और व्यक्तिवादी लेखक देखते हैं और

व्यक्ति को सामाजिक इकाई न मानकर उसे अज्ञात जगत का वासी मानकर उसकी समस्याओं को सन्तों वाली सरलता से जीवन मुक्ति के नुस्खे दिया करते हैं। परन्तु समय की धारा पीछे नहीं मुड़ती। क्रान्ति की परम्परा प्रतिगामिनी नहीं होती। यह आज कैसे भूला जा सकता है कि सामाजिक भेद भावों को दृढ़ता प्रदान करने वाले हैं उनके भीतर के आर्थिक स्वार्थ। व्यक्ति को बदलने के पहले उस आर्थिक ढाँचे को बदलना होगा जिसमें पड़ कर और पल कर व्यक्ति आज व्यक्ति नहीं रह गया है। साहित्य में जिस स्थिरतावादी व्यक्ति-धर्म को लेकर चला जाता है वह समस्याओं को और अधिक उलझा देता है। कारण स्पष्ठ है। वह व्यक्तियों के आर्थिक स्वार्थों को अक्षुण्ण रखना चाहता है। हृदय में मानवता का अतिरेक होने के कारण स्वतंत्रता, शिव, साम्य आदि का स्वप्न देखना और इन स्वप्नों को एक भाव-विशिष्ठ, रंगीन चटक और वैयक्तिक रंग दे देना एक बात है और उस सामाजिक विधान में ही ऐसे आमूल परिवर्तन की माँग करना जिसकी कल्याणकारी यथार्थता में स्वप्न देखने की आवश्यकता न रहे—दूसरी बात है और यही सामाजिक उत्कर्ष की पराकाष्ठा है। परन्तु स्थिति यह है कि आज कला सामाजिक उत्पादन न रहकर एक श्रेणी उत्पादन बन गई है। इसलिये कलाकार और संरक्षक का सम्बन्ध कला निर्माण में एक मौलिक उपादान बन गया है। कलाकार यदि गुलाम है तो वह स्वामी की रुचि की वस्तु बनाने को बाध्य है। यदि वह स्वतंत्र कारीगर है तो भी खरीदार वर्ग अर्थात् शासक वर्ग या उस वर्ग के विचारवाद से प्रभावित अन्य लोगों की रुचि का ख्याल उसे रखना ही होगा। एक ऐसे समाज में जो निश्चय ही श्रमजीवी वर्ग और सम्पत्तिजीवी वर्ग में विभाजित है कलाकार उत्पादक या श्रमजीवी श्रेणी का एक सदस्य बन गया है। इस संरक्षक कलाकार सम्बन्ध द्वारा कला के ऊपर पड़ने वाले महत्वपूर्ण

प्रभावों में मुख्य यह है कि संरक्षक वर्ग न केवल कला के गुण और प्रभाव को ही निर्णीत करता है बल्कि उसके बाह्य रूप का भी निर्णय करता है। इस संरक्षक वर्ग की आवश्यकताओं और इच्छाओं के अनुसार ही साहित्य का सृजन होता है। अपने स्वाभाविक चरित्र के कारण कला का जो रूप शासकवर्ग की आवश्यकताओं के अनुकूल होता है उसका वही रूप उस विशेष काल में किसी साहित्य या कला के भीतर प्रमुख बन जाता है। परन्तु ऐसे साहित्य या कला के भीतर सामूहिक हित की उपासना कैसे होगी? गोर्की ने लिखा है—"मैं मजदूर किसानों को ही सच्चा वीर समझता हूँ क्योंकि उनमें काम करने की लगन है। वे काम की गति विधि जानते हैं और उनका एक ही ध्येय है—समस्त मनुष्य जाति के कल्याण के लिये काम करना"। आज प्रगतिवादी की भी यही मान्यता है। वह भी यही सोचता है कि इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर चलते हुए लेखकों का रचनात्मक श्रम सफल होगा और वे स्वतंत्र मानव की जागृति की भावनाओं का प्रदर्शन कर सकेंगे। यही साहित्य का सच्चा संस्कृति-मानवी दृष्टिकोण है।

साहित्य सामाजिक संघर्षों का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक उपयोगिता उसकी शर्त है। देश और समाज की पुकार और आवश्यकताओं के अनुसार देशवासियों की कलात्मक वृत्तियों को जागृत करना, समाज-विद्रोही और जनता विरोधी रूढ़ियों और कुरीतियों के प्रति विद्रोह को जन जीवन का आवश्यक अंग बना देना और जन जन के बीच एक समीपता—एक बंधुत्व स्थापित करना साहित्य का ध्येय होता है। वही साहित्य सच्चे अर्थों में जन साहित्य है जो जनता को शिक्षित और अपने बन्धनों के प्रति सजग, अधिकारों के प्रति जागृत और सामुदायिक कल्याण के लिये प्रेरित करता है। यह जनता साधारण श्रमिक और किसान जनता है जिसकी अनुभूतियों और बलिदानों की अभिव्यक्ति

साहित्य में होनी चाहिये। जनता के शत्रु साहित्यकार और कलाकार के शत्रु हैं और उनके घृणात्मक कार्यों के नग्न चित्र साहित्य में अंकित होने चाहिये। संक्षेप में साहित्य को आज जन-संघर्ष के अस्त्र के रूप में अपने को बदलना होगा। नहीं तो वह देवदासियों की स्वान्तः सुखाय कलात्मकता बनकर ही रह जायगा। वास्तविक जीवन और राजनैतिक संघर्ष को आगे बढ़ाने वाला साहित्य ही हमारी क्रान्ति परम्परा की रक्षा कर सकेगा। जन-जीवन ही अमर प्रेरणा, अनन्त अनुभूति और दिव्य सन्देशों का स्रोत है। उससे दूर रह कर साहित्य और साहित्यकार दोनों जीवन हीन हो जाँयगे। जन-जीवन का यही संपर्क कलाकार को गलत दिशा में जाने से रोकेगा और यह सिखायेगा कि वह क्या कहे, क्या लिखे और क्या क्या करे। जनजीवन के संघर्षों और उतार चढ़ाव से अछूता रहने वाला साहित्य जीवन की सांस्कृतिक और समाज की ऐतिहासिक प्रगति से दूर रहेगा। साहित्य को शाश्वत वस्तु कहकर राजनीति, समाजविज्ञान और युग की परिस्थितियों से दूर रखने की चेष्टा टुकड़ेबाजी है अर्थात् टुकड़ों को लेकर उसे पूर्ण समझ लेना है और इन सब के सूत्र जनजीवन तक पहुँचने से इन्कार करना है। राजनीति और समाज विज्ञान का उद्देश्य भी तो जीवन को सुव्यवस्थित बनाकर प्रगति की ओर ले जाना है। यदि साहित्य जीवन का संस्कार करता है तो राजनीति सामाजिक सन्तोष और आर्थिक न्याय की स्थापना करती है। इसलिये जो साहित्य देश और समाज के मानस को जनताभिमुख नहीं करता—सामाजिक मानव के संघर्ष, सुख, समृद्धि और स्वतंत्रता पर ज़ोर नहीं देता—जनजीवन की गति, प्रवाह, वेग, हलचल, आन्दोलन, क्रिया, चमक—चैतन्य के समस्त लक्षणों के विकास को अभिव्यक्त नहीं करता वह साहित्य की क्रान्तिकारी परम्परा से च्युत है। हमारे निकट उसका मूल्य कुछ नहीं है

क्योंकि सामाजिक नवनिर्माण में उसका कोई स्थान नहीं है।

हिन्दी साहित्य की परम्परा आज एक महान् जन-युद्ध के बीच आकर खड़ी है। हिन्दी के क्रान्तिदृष्टा साहित्यकारों को आज संस्कृति विनाशक फैसिज्म और जनतावाद की समस्त विरोधी शक्तियों से लोहा लेना है। संसार में नवजीवन निर्माण की समस्त शक्तियाँ आज इस जन युद्ध में केन्द्रीभूत हो रही हैं। हमारी राष्ट्रीय चेतना और सामूहिक विवेक आज इसी मोर्चे पर डटा हुआ है। आज विश्व की जनता सोवियत् संघ के नेतृत्व में आज़ादी की लड़ाई लड़ रही है और विश्व की इस मुक्तिकामी जनता के साथ हमारा दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। स्वतंत्र विश्व में ही स्वतंत्र भारत की स्थापना हो सकेगी। इसलिये इस महान् स्वाधीनता संग्राम में रहते हुए हम उसका अधिक से अधिक निर्भीक और बलप्रदान करने वाला चित्रण करें। पराधीन भारतीय समाज पर होने वाले ब्रिटिश और देशी साम्राज्यवादी शोषण के कटु और संघर्षपूर्ण दृश्य साहित्य में उतरने चाहिये। साहित्यकार प्रगतिशील समाजशास्त्री होता है और आज साम्राज्य-विरोधी, फासिज्म-विरोधी मनोवृत्ति को जागृत करके जनता की ताक़तों की विजय की कामना करना और स्वाधीनता की लड़ाई को अपनी राष्ट्रीय परम्परा के अनुरूप साहस, त्याग, बलिदान, शौर्य्य और निष्ठा से लड़ने के लिये जनता के सैनिकों को प्रेरणा देना साहित्य का ध्येय होना चाहिये। हमारे साथी लेखकों ने फाशिज्म की बर्बर विचारधारा के विरुद्ध चीन, जापान, जर्मनी, स्पेन और दूसरे देशों में स्वर ऊँचा किया है और उसके लिये असह यातनायें सही हैं। मनुष्य की मानव समाज की साँस्कृतिक सफलताओं को चकनाचूर करनेवाली गुलामी के विरुद्ध हमें देशवासियों के मनोबल को संगठित और तैयार करना है। लेखक और कलाकार केवल कला और संस्कृति के सृष्टा ही नहीं हैं। जब कला, संस्कृति और प्रगति

खतरे में पड़ती है तो उसकी रक्षा के लिये लड़ने को वे आगे आते हैं। हमारे देश में इस समय जो संकट छाया है उसने ऐसी ही परिस्थिति पैदा कर दी है।

संक्षेप में हमारे साहित्य की क्रान्तिकारी परम्परा भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, मैथिलीशरण गुप्त, 'एक भारतीय आत्मा' से लेकर बीच की कितनी ही धाराओं में होती हुई आज फासिस्ट विरोधी और साम्यवादी चिन्ताधारा में उतर आई है। इस लोक युद्ध का प्रबल प्रभाव साहित्य पर पड़ रहा है और फाशिज्म के विरोध के समानान्तर साहित्य का एक आन्तरिक मोर्चा भी तैयार हो रहा है जिसका उद्देश्य गति के विभिन्न विरोधी और संघर्षाभिभूत मार्गों से जीवन को ले जाकर उसे समाज के कल्याण की धुरी पर स्थापित करना है। जीवन की गति में जो नाशक और तीव्र विषमता आ गई है उसे समता का रूप देना ही होगा। हमारी क्रान्ति की यह आखिरी और निर्णायक मंज़िल होगी। 'सब का सुख और सन्तोष', सामूहिक हित की भूमि पर जब हम आ गये तो आगे फिर शिव और सौन्दर्य्य की सत्ता ही है। इसलिये क्रान्ति का विरोध करने वाले आलोचकों को यह स्मरण रखना चाहिये कि वह पुराने पर प्रगतिशील तत्वों की रक्षा करती है। क्रान्ति भी एक फिलासफी है—उसका भी एक अन्तर और बाह्य दर्शन है—उसमें भी कार्य कारण का सम्बन्ध रहता है। क्रान्ति में यदि आगे बढ़ने और पीछे हटते हुए तत्वों का संघर्ष होता है—पुरानी दुनिया यदि नष्ट होती दिखाई देती है तो भी क्रान्ति का यह कार्य है कि वह समस्त पुराने परन्तु प्रगतिशील तत्वों की रक्षा करे। प्रगति का अवरोध दूर करने के लिये ही क्रान्ति का आगमन होता है।

साहित्य के स्वरूप या अन्तस्थ (Content) में परिवर्तन या क्रान्ति जीवन में होने वाले परिवर्तनों की ही सूचक है। और क्रान्ति

भी तो कार्य में परिणत होने की इच्छा या प्रयत्नशील, आगे बढ़ने वाला मानव [भाव है। वह समाज के असन्तोष का विस्फोटक भी है और समाज को नये सिरे से रचने वाला बल भी। जगत का, मनुष्य जाति का दुख कम हो और दुख के इन कारणों का उपचार हो— राज्य, धन, सत्ता, धर्म, विवाह और कुटुम्ब संस्था ये सब यदि प्रगति के साधन न रह कर केवल बन्धनरूप रह गये हों जैसा कि अधिकांश आज ये बन गये हैं तब इन्हें बदल कर दूसरे प्रकार के साधन रचे जाँय — विचारों और कर्म की क्रान्ति द्वारा — यही प्रत्येक प्रगतिशील समाज शास्त्री कहेगा। क्रान्ति के महान् सत्य को स्वीकार करते समय मनुष्य की स्वाधीन चिन्ता और चेतना को भी उचित स्थान देना होगा। परन्तु व्यक्तिवाद के प्रति अवाञ्छनीय आसक्ति को यहाँ भी कुचलना होगा। अविच्छिन्न सामाजिक आत्मीयता की स्थापना के लिये हृदय की अखण्ड रक्तधारा से क्रान्ति का साहित्य यज्ञ रचने वाले हिन्दी के तरुण और वयस्क दोनों लेखकों पर इस परम्परा की रक्षा का भार है। प्रेमचन्द 'एक भारतीय आत्मा' और मैथिलीशरण की महान् सामूहिक हित की भावना और तज्जनित जीवन दर्शन की विरासत को हमें आगे बढ़ाना है।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा साहित्य

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा साहित्य कहाँ तक आगे आ पहुँचा है यह जाँचने के पहले प्रेमचन्द के महत्व पर थोड़ा सा कहना आवश्यक हो जाता है। प्रेमचन्द ने दुनिया को क्या दिया, संसार को किस नये दृष्टिकोण से देखा और वह दृष्टिकोण किस सत्य को अभिव्यक्त करता है यह गद्य बहुत संक्षेप में समझकर हम प्रेमचन्द के बाद लगने वाले हिन्दी कथा साहित्य के विराम चिन्हों को देखेंगे। प्रेमचन्द ने जिस साहित्य की सृष्टि की उसके उपादान क्या हैं और उसको उन्होंने किस दृष्टि से देखा है यह पिछले लेख में हम दिखा चुके हैं। अंतिम काल में प्रेमचन्द ने नाना वर्ग संघर्षों में से आर्थिक संघर्ष को ही प्रधान मान लिया। आधुनिक सभ्यता के वर्तमान रूप पर ज्यों ज्यों उन्होंने मनन किया त्यों त्यों वे समझते गये कि Industrial revolution के बाद का विश्व इतिहास शासक और शासितों, शोषक और शोषितों, 'हैव्ज' और 'हैव्जनाट' के संघर्ष का इतिहास है जो आज की दुनिया में और इसीलिये साहित्य में अपने कुत्सिततम रूप में प्रकट हुआ है। परन्तु इस संघर्ष को उसके कठोरतम रूप में चित्रित करते हुए भी प्रेमचन्द बार बार मनुष्य की सद्-वृत्तियों पर विश्वास करते रहे। मनुष्य की दुर्वृत्तियों को कभी उन्होंने अजेय नहीं समझा। दूसरी ओर वे आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के विरोधी नहीं वरन उसकी जड़ोन्मुखता और वर्ग शोषण की जड़ें गहरी करने वाले आर्थिक ढाँचे के विरोधी थे। प्रेम की पावनता पर उनका विश्वास अडिग रहा। उसे वे मानसिक गन्दगी को दूर करनेवाला, नियमाचार को नष्ट करने वाला और जीवन में छाई हुई तामसिकता को एक नयी

ज्योति से आलोकित करने वाला आध्यात्मिक प्रकाश मानते रहे। उनकी किसी भी कहानी और उपन्यास में प्रेम का यह मांगलिक रूप देखा जा सकता है। यह प्रेम मानव को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है क्योंकि प्रेम के लिये उनकी ये पहली शर्तें हैं। दूसरी ओर वर्ग चेतनाओं में आर्थिक वर्गों के संघर्ष की चेतना को उन्होंने प्रधान माना पर तब भी वे जीवन की सफलता सेवा और त्याग में ही मानते रहे। व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की मुक्तियों का यही रास्ता उन्हें दिखाई देता था। वर्ग रूप में व्यक्ति को देखना प्रेमचन्द की विशेष दृष्टि थी जो उनके पहले किसी भी भारतीय कलाकार को प्राप्त नहीं हो पायी थी। परन्तु वर्ग संघर्ष के भीतर भी सहयोग के द्वारा शान्ति और सुख, सामाजिक सौख्य प्राप्त करना उनकी चरम साधना थी। संघर्ष को अस्वीकार न करते हुए भी वह यह सदा मानते रहे कि संघर्ष का अन्त संघर्ष से नहीं, सेवा और त्याग से एकता और सहयोग से हो सकता है। आध्यात्मिक शक्ति की भूख और तलाश उनके साहित्य में और जीवन में बराबर रही है। मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को उन्होंने स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है—उनका भाग्य गरीबों के साथ सम्बद्ध था और इसमें उन्हें आध्यात्मिक ढारस मिलती थी। भारतीय जनता का दरिद्रता का पक्ष बलवान बनाना, उसे विश्व के नेत्रों के सामने रखना प्रेमचन्द का मनोरंजन या बुद्धि विलास नहीं था। यह उनके जीवन का चरमलक्ष्य था क्योंकि इसमें वे आध्यात्मिक सन्तोष पाते थे। इस द्वन्द जर्जर युग के लिये उनके पास निवृत्ति का यही अमृत-सन्देश है जो आर्थिक और नैतिक पतन से ग्रस्त भारतीय जनता को उन्होंने बराबर दिया है।

परन्तु प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा साहित्य में कुछ परिवर्तन हुए हैं और ये परिवर्तन महत्व के हैं। वह आध्यात्मिक urge जो प्रेमचन्द

के साहित्य का मूल स्वर है—सामंजस्य भी वह प्राणप्रद पुकार आगे चलकर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्रान्ति की ज़ोरदार माँग का रूप धारण करती गई है। जीवन की जड़ और चेतन दोनों प्रकार की सीमाओं को तोड़ डालने की उत्कट प्रेरणा प्रेमचन्द के बाद आने वाले हिन्दी कलाकारों ने दी है। प्रेमचन्द के साहित्य में उन सब स्थितियों का, दरिद्रता, कशमकश और संघर्ष का, उन अन्तर्विरोधों और असंगतियों का चित्रण तो हुआ है जो क्रान्ति की भूमि तैयार करती हैं परन्तु क्रान्ति का आह्वान कहीं भी ज़ोरदार शब्दों में किया गया हो ऐसा स्मरण नहीं आता। क्रान्ति और समाजवादी क्रान्ति की इस विषाक्त आर्थिक और विराट शोषण चक्र पर आधारित सांस्कृतिक व्यवस्था को नष्ट कर वर्गहीन, श्रेणी रहित समाज स्थापना की स्पष्ट और प्रबल आवाज़ तो प्रेमचन्द के बाद आने वाले कलाकारों ने ही उठाई है :—

"तुम कर्म की बात मत करो माँ। क्या हमारे देश में भी ऐसे लोगों की कमी है जो सपरिवार रातदिन लगातार काम में तेली के बैल की तरह जुते रहते हैं। उनका सारा का सारा जीवन अँधेरी कोठरियों, गन्दे मकानों, धूप और शीत की स्वास्थ्यघातक सीमाओं, दिल और दिमाग को बेकार कर देने वाली मशीनों और फैक्टरियों की घनघोर ध्वनियों के बीच खप जाता है। फिर भी वे दरिद्र के दरिद्र ही बने रहते हैं।........नैतिक आर्थिक सीमायें बनेंगी और नष्ट होंगी, आदर्शों का स्थापन एक बार होगा, पुनः मिट जायगा। मनुष्य अपने सामूहिक त्याग और बलिदान से उसे सींचेगा। बेल भी लहलहायेगी। परन्तु विवर्तन का चक्र तो कभी कहीं चला नहीं जायगा। वह तो आयेगा। क्रान्ति का ही अपना एक नाम इतिहास है।........."

"क्या आपको पता है देहात में तथाकथित नीति, धर्म और संस्कृति का विरोध लेकर नवयुग का हिमायती व्यक्ति न तो सुख

सन्तोष की नींद सो सकता है न मानवोचित सम्मान का अधिकारी ही हो सकता है। यहाँ की सारी सत्ता—चाहे वह नैतिक हो अथवा आर्थिक उन्हीं लोगों के हाथों में है जो पैसे वाले हैं—महाजन अथवा ज़मीदार हैं। नित्य जन साधारण का शोषण करना जिनका पेशा है। मनुष्यता की रक्षा कीजिये। जीवन के सत्य और माँगलिक स्वरूप को तो न भूलिये।...............इस देहात में भी एक बार क्रान्ति की आग लगवा दीजिये।

भगवती प्रसाद वाजपेयी (निमंत्रण)

इससे भी आगे बढ़कर यशपाल का प्रेरक सन्देश सुनिये—

"डकैती जैसा घृणित काम जिसका विरोध करने के लिये हम अपना जीवन बलिदान कर रहे हैं हम कभी नहीं कर सकते थे और न हमने उसे किया है। हमारा विश्वास है प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के फल पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये। एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य से, एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी से, एक देश द्वारा दूसरे देश से उसके परिश्रम का फल छीन लेना अनुचित है—अन्याय है—अपराध है। यह समाज में निरन्तर होने वाली भयंकर हिंसा और डकैती है। इस हिंसा और शोषण को समाप्त करना ही हमारे जीवन का उद्देश्य रहा है, इसी के लिये हमने प्रयत्न किया। हिंसा और डकैती का अपराध हम पर लगाना अन्याय है।.........हमें पूर्ण विश्वास है—न्याय की यह धारणा जो कुछ व्यक्तियों के ऐशोआराम के अधिकारों की रक्षा के लिये ९९.९ फी सदी जनता को जीवन के अधिकारों और उपायों से वंचित कर देती है, एक दिन बदलेगी और हमारा बलिदान इस प्रयत्न में सहायक होगा।

(दादा कामरेड)

"जापान वा फैसिष्ट शक्तियों से सहयोग का अर्थ है फैशिज्म की अन्तर्राष्ट्रीय नीति को स्वीकार करना। और फैशिज्म का पहला दावा यह है कि संसार के पराधीन और निर्बल राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्रों के उपयोग के लिये हैं। फैसिष्टों की सफलता से आप अपनी किस्मत पर गुलामी की मोहर उस समय तक के लिये लगा लीजिये जब तक कि फैसिष्ट साम्राज्य कमज़ोर न होने लगे और उसे समाप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ उठ खड़ी हों। वास्तव में यह है बड़ी दूरदर्शिता। फैशिज्म का विरोध करने वाली जो अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ आज मौजूद हैं उनसे हम सहयोग न करें। अपनी अवस्था को और गिरालें और फिर फैशिज्म के विरुद्ध नई अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के पैदा होने और सबल होने की प्रतीक्षा करें !... ..."

"हम दया की भीख नहीं माँगते। हमारा दावा है कि मिल की पैदावार पर हमारे मज़दूरों का अधिकार मालिक कहलाने वालों से अधिक है। हमारे मज़दूरों की आवश्यकता उससे पूरी होनी चाहिये। मालिक चाहे जितना प्रेम करे—वह पालतू जानवर से किये जाने वाले प्रेम की ही भाँति होगा। मज़दूर रहेगा तो मालिक का आश्रित ही। लेकिन हम चाहते हैं अपने भाग्य का निर्णय करने का अवसर स्वयं मज़दूर को हो।........."

(देशद्रोही से)

साहित्य की विचारधारा के इस संक्रमण काल के अन्दर पुराने विश्वासों, पुराने सौन्दर्य मूल्यों, पुरानी अभिव्यक्तियों, पुराने संस्कारों और पुरानी परम्पराओं के स्थान पर जीवन के प्रति एक नया ही दृष्टिकोण और एक नई ही अभिव्यक्ति विकसित हो रही है। अचल संस्कृति की जराजीर्ण व्यवस्था और विचारधारा के खिलाफ़ क्रान्ति से नवीन साहित्य का जन्म हो रहा है। परम्परा के विरुद्ध बुद्धि की, निरंकुश विदेशी शासन और स्वदेशी शोषण के विरुद्ध उग्र राष्ट्रीय चेतना और

मार्क्सवादी स्वाधीनतावाद की ओर वैराग्य के विरुद्ध ऐतिहासिक विचार और खोज की दृष्टि से जीवन की पूर्णता की घोषणा, पुरातन, उत्तराधिकार में मिली संस्कृति की गहरी किन्तु अनासक्त जाँच पड़ताल हिन्दी कथासाहित्य में प्रेमचन्द द्वारा स्थापित की गई परम्परा को आगे बढ़ा रही है। एक दूसरे प्रतिभाशाली उपन्यासकार नरोत्तम प्रसाद नागर 'दिन के तारे' में लिखते हैं—

"जनता का जहाँ तक सम्बन्ध है वह, प्रेमचन्द जी के साहित्य में भी और गाँधी जी द्वारा संचालित आन्दोलनों में भी बलि का बकरा ही बनी रही। जनता के हितों को आगे बढ़ाने में नहीं वरन् भारतीय पूँजीपतियों के हितों का प्रसार करने में यह आन्दोलन अधिक सहायक हुए। अपने देश की जनता का शोषण विदेशी पूँजीपति करते रहे और इस देश की मिट्टी से बने तथा हवा पानी में पले विशुद्ध स्वदेशी तथा हाथ के कते बुने पूँजीपति केवल टापते ही रह जांय—यह कितना अन्याय है। उनके जन्मसिद्ध अधिकार पर कितनी भारी चोट पड़ रही है। भारत के पूँजीपतियों की जेब में न जाकर देश का धन जो इस तरह विदेशी पूँजीपतियों की जेब में जा रहा है इसे रोकना होगा।

"जनता के हितों को आगे बढ़ाने के लिये नहीं वरन देशी तथा विदेशी पूँजीपतियों को यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर की सुविधायें दिलाने के लिये इन आन्दोलनों को चलाया गया था। इन आन्दोलनों के मूल में यही एक प्रेरणा काम कर रही थी और इस प्रेरणा को सार्थक करने के लिये जनता का उपयोग इन आन्दोलनों में किया गया था।"

स्पष्ठ है प्रेमचन्द के बाद तरुण कलाकारों का जो दल आज साहित्य में कार्य कर रहा है वह अपनी तीक्ष्णदृष्टि, जागृत विवेक और आलोचनात्मक प्रतिभा से उस महान कलाकार की परम्परा को बल

दे रहा है। सामाजिक और आर्थिक विषमता की चेतना का एक पुष्ट दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में दिन पर दिन विकसित हो रहा है। यह बात ज़रूर है कि प्रेमचन्द की सी "सरल और मुँहजोर" हिन्दी किसी और लेखक ने नहीं लिखः परन्तु भाषा में एक स्वभावगत तल्खी और पैनापन आप से आप इन लेखकों में आरहा है। प्रेमचन्द के बाद यह दल भाषा में एक नये प्राण फूँक रहा है। दूसरी ओर इन कलाकारों में प्रेमचन्द से उधार लेने या नकल की प्रवृत्ति भी नहीं है। साथ ही समाज के भीतर फैले हुए पारस्परिक अविश्वास, ईर्षा, द्वेष, अहम्, शोषण, विषमता और आर्थिक जूँठन, अन्याय, आतंक और वीभत्सता को ठीक ठीक समझाने का भार भी हमारे तरुण कलाकारों पर है। हर एक व्यक्ति को अपने इर्दगिर्द के संस्कारों से रूप मिलता है, उसके विकास में एक इतिहास निहित रहता है। यही व्यक्ति समाज की रचना करते है। समूचे समाज को समझाने के लिये हमारे नये कलाकार इन प्रतिनिधि-मूलक व्यक्तियों की जानकारी दे रहे हैं। प्रेमचन्द ने बारबार वही ज्ञान हमें दिया। नये कलाकार भी हमें वही दे रहे हैं—अधिक आघात-कारिणी शक्ति के साथ। समाज के शोषित मूक वर्ग जीवित मानव के रूप में साहित्य में आते जा रहे हैं।

हमारे इन तरुण कलाकारों के हृदय में इतनी वेदनायें, इतने विद्रोहभाव, इतनी चिनगारियाँ भरी हैं कि वे उन्हें सँभाल नहीं सकते। दुनिया की धूर्तता और मक्कारी, सामाजिक बन्धनों की विवशता उन्हें प्रतिक्षण प्रेरित करती रहती है! लाखों करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने दाने और चिथड़े चिथडे को मोहताज़ लोगों की सारी कातरता, सारी बेचैनी, सारी जड़ता और सारी बुभुक्षा उनकी रचनाओं में वाणी पाती है। दुनिया की सारी जटिलताओं को वे समझते हैं और जीवन की सारी पेचीदगी उनके सामने जैसे आत्म-प्रकटीकरण

करती रहती है। दूसरी ओर ईश्वर पर, धार्मिक ढकोसलों पर विश्वास न करते हुए भी मानव की सद्वृत्तियों पर उनका अडिग विश्वास है। कदाचित् यह नास्तिकता ही उनके दृढ़ विश्वास का कवच है। वे बुद्धिवादी हैं और मानव की स्वास्थ्यजन्य आनन्दिनी वृत्ति के सामने समस्त अवरोध, कठिनाइयाँ और बन्दिशें पराजित हो जाती हैं।

"अपनी जगह से लपक नोटों का लिफाफा उठा रावत अभी निश्चय की साँस नहीं ले पाये थे कि फुलिया (वेश्या) की बात ने उनके हृदय में फिर से घृणा की बर्छी मार दी.. ...."अल्ला की दी जवानी है तो सब कुछ है।"

"फुलिया के बेरौनक चेहरे की ओर देख वे सोचने लगे—जवानी को टके टके पर बेंचने वाली, अपने शरीर का सौदा करने वाली यह औरत, बासी गोश्त पूरी को देख अपने को न सम्भाल सकने वाली यह औरत दो हज़ार को कैसे ठुकराये दे रही है।...........इसके भी धर्म है, ईमान है, इज्ज़त है! फुलिया के चेहरे पर उन्हें एक ज्योति दिखाई देने लगी जैसे कोई परम त्यागी, सतवन्ती देवी उनके सामने बैठी है।

"टोकरी से बासी पूरी का कौर मुँह में भरते हुए फुलिया फिर कहने लगी—"बन्दा अपनी मेहनत की कमाई पर सब्र करे! दूसरे की कमाई पर ललचने से कुछ थोड़े ही होता है। हमारी चीजवस्त बांस से कम की न थी पर क्या, हाथ पैर हैं तो अल्ला फिर देगा।"

यशपाल (हलाल का टुकड़ा)

"मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिये हाथ बढ़ाते हुए कहा—इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।

एक छोटे क्षण भर के लिये मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा

मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला—माँ, युवती माँ ! यह तुम्हारे हृदय क क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो......और यह अभी जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है

"और तब एकाएक मैंने जाना कि यह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं मैंने उस छाया को देख भी लिया।" अज्ञेय—रोज

"पास के दरवाजे से वह मुझे रास्ता दिखाती हुई ले चली। चौखट के उस ओर एकदम अँधेरा है। वह बरामदा है या सीढ़ी यह मालूम नहीं हुआ। सील की ठंडी बू आ रही थी। टेढ़े मेढ़े तंग पथ पर और भी कुछ दूर आगे बढ़ने के बाद लड़की ने अंत में मुझे एक ऐसी जगह खड़ा कराया जिसे कमरा या बरामदा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सिर के ऊपर छत है और तीन तरफ टीन का बेड़ा है। एक कोने में किरासिन तेल की ढिबरी जल रही है। दरिद्रता का असली चेहरा धीरे धीरे नजर आया। इर्दगिर्द कूड़ा करकट और गृहस्थी की टूटी फूटी चीजें बेतरतीब पड़ी हैं। टीन की तरफ मुँह किये एक महिला सो रही थी—पैर की आवाज़ से चौंकी ! कौन ! कौन है वहाँ !

मैं !

साँप या बाघ देख कर भी आदमी इतना नहीं चौंकता। वह महिला जोरों से आर्तनाद कर उठी 'फिर तू मेरे सामने आई कलमुँही, जा चली जा दूर हो।

तुम्हारी तबियत कैसी है यह देखने आई हूँ।

ओ हो कैसा दर्द है। मैं न तुम्हारा खाती हूँ और न पहनती हूँ— फिर क्यों शाम के वक्त मुझे जलाने आ गई—महिला ने दाँत कटकटाये; तुम बाप बेटी सुख से रहो। नरक छोड़ कर मैं भी तो अलग पड़ी हुई हूँ।

डाक्टर बाबू को लाई हूँ, तुम्हारी छाती का दर्द—

नहीं—नहीं ज़रूरत नहीं, तू मेरी आँखों के सामने से हट जा—

कहते कहते उत्तेजना की अधिकता में महिला ने अपने नज़दीक रखी हुई एक लोहे की कटोरी उठा ली और लड़की को लक्ष्य कर फेंकी। लड़की के न लगकर वह ज़मीन पर सशब्द गिरी और एक ओर लुढ़क गई। फिर सुना रोना; मैं तेरी छाया नहीं देखना चाहती ... मुझे यहीं मरने दो।"

कमल जोशी—'विज़िट'

"शाम को साढ़े सात बजे जब नबी अस्पताल से लौटा तो उसने अपनी अम्मा से पूछा—"तेरी याद में भी कभी आज से पहले इस चौराहे पर कोई मौत हुई थी ?

"नहीं तो बेटा ! आज मैं ऐसी बात पहली ही बार सुन रही हूँ। लोगों के सर टूटे, हाथ पैर टूटे—सब करम हुए; पर चौराहा शहकमाल पर किसी की मौत नहीं हुई।"

और उसी समय सेंकी हुई रोटियाँ कठौती से ढक कर, चूल्हे में पानी डाल, रोते हुए किसना को गोद में लिये किसोरी दरवाजे पर बाट जोहती खड़ी सोच रही थी—वे अब आते होंगे, अब आते होंगे।

कान्तीचन्द्र—चौराहा

"लेकिन फिर लाश पर जगह जगह जमे हुए कत्थई और काले खून को देख कर उसने कहा ग़लत है। दुनिया में आदमी यों नहीं आता। तब उसका खून टेसू के फूल की तरह लाल होता है—यानी असली खून की तरह। यह भी कोई खून है—काई सा काला,

मटीला। तब उसमें फौवारे की तेज़ी होती है। ऐसा नहीं होता वह—बेजान, बेदिल। तब उसमें गर्मी होती है— जहाँ तहाँ जम नहीं जाया करता बर्फ़ की तरह। तब ज़िन्दगी को देखने की उमंग होती है आदमी में जो उसके खून को अपनी लाली देती है—यह नफ़रत नहीं जो उसके खून को काला कर दे, अँधेरे की तरह, कालिख की तरह, मिट्टी की तरह, मौत की तरह, नफ़रत की तरह। अमृतराय—नफ़रत

"अरी अम्मा! अब नहीं फाड़ूँगी तेरे हाथ जोड़ूँ।" जस्सो के रुदन से राह चलते ठिठक गये पर चन्दो को तरस न आया, उसकी दया, माया, स्नेह, ममता, प्यार, हृदय की समस्त कोमल भावनायें पेट की भट्टी में भस्मसात हो चुकी थीं। दस वर्ष पहले की वही नन्दो जो घन्टे में दो घड़े नाज पीट लेती थी और भैया को मारने के कारण माँ से झगड़ा कर के उसे गोद में लिये ही रोटी बना लेती थी, चौका बरतन झाड़ू कर लेती, खेत पर रोटी दे आती थी आज अधबूढ़ी हो चुकी है। हाथ पाँव निरन्तर के शारीरिक श्रम के कारण अब भी मज़बूत हैं। परन्तु मुख का लावण्य, अन्न वस्त्र की चिन्ता कर्ज और बाल बच्चों की फ़िक्र में कभी का विदा हो चुका है। वही नन्दो जो भैया को आधी आधी रात तक नीम में रस्सी डाल कर झूला झुलाती थी अब अपने बालक के रो रो कर आँखें सुजा लेने पर भी काम छोड़ कर दूध नहीं पिलाती। मन की कोमलता और भावुकता की धारा यथार्थ के जलते तवे पर गिर कर छन्न से छू हो गई थी।

× × ×

भीड़ की अधिकाँश रोगिणियों ने जो नन्दो जैसी ही लुटते पतझड़ सा यौवन लिये थीं, उसी की भाँति मैली कुचैली फटे हुए लँहगे, ओढ़नी या चूड़ीदार पैजामे और पैबन्द लगे बुरके लादे थीं, जिनके हाथ पाँव

और गले में चाँदी और गिलट के घिसे हुए मैल से काले पड़े छड़े और हँसुलियाँ पड़ी थीं, जिनके बच्चों के सूखे हाथ पावों और बढ़े हुए पेट पर गण्डे तावीज़ों की मालायें मढ़ी हुई थीं, उसे धक्का देकर कहा—"वाहरी, पीछे आई और पहले दवाई माँगती है! तू ही है एक नवाबज़ादी—!"

नवाबज़ादी तू, तेरी माँ—"नन्दो ने पलट कर कहा! इन अपने जैसी नालियों में रेंगते कीड़ों सी नारियों से वह क्यों दबे।"

चन्द्रकिरण – बेज़ुबाँ

•

"बीबाँ, उसकी पत्नी ने सामने जाते हुए ताँगे के पीछे उड़ती हुई धूल में आँखें गड़ा दीं और बोली—अढ़ाई रुपये, इतने से तो पन्द्रह दिन घर का खर्च चल सकता है, और नहीं तो फज़्ज़े की कमीज़ें और मेरे नन्हें चिराग की कई कुरतियाँ बन सकती हैं। और उसने गोद में लिए हुए उबली उबली सूजी सूजी आँखों वाले काले स्याह बच्चे को मुहब्बत से चूम लिया।

× × ×

जब तूफ़ान कुछ थमा और बकरियों और भेड़ों की आवाज़ों को दबाती हुई चरवाहों की कर्कश गालियाँ श्रवण शक्ति की सीमा से परे चली गईं, तो मौलू सड़क को पार कर के दूसरी ओर गेहूँ के कटे हुए खेत में जा खड़ा हुआ। गठरी उसने उतार कर धरती पर रख दी, तहमद और कमीज़ को अच्छी तरह झाड़ कर उसने सिर से पगड़ी उतारी और उसे भली भाँति झाड़ा, कमीज़ के दामन को उलटा करके उससे मुँह पोंछा, फिर पगड़ी बाँधी और अपने बीबी बच्चों को आवाज़ दी कि वे भी सड़क के इस किनारे आ जाँय। धूल जैसे दाईं ओर धरती और आकाश के मध्य जाकर लटक गई थी। एक लम्बी सी

लकीर बन गई थी। ज्यों ज्यों खेत आगे बढ़ता जाता था वह लकीर भी बढ़ती जाती थी। उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—काँकड़ा का तेली

"बोले—निशिकान्त! काश कि ऐसा होता! काश कि मैं जंज़ीर में बँधा हुआ नंगे बदन जेठ की तपती दोपहरी या माघ पूस के कड़कड़ाते जाड़े में बाज़ारों में घसीटा जाता। तब या तो मेरे प्राण मुझे ही खा जाते या मुझ पर जुल्म करनेवालों के पीछे प्रेत बन कर लग जाते कि उन्हें ही नहीं उनकी दस दस पीढ़ियों को जीना मुश्किल होजाता।

× × ×

"वह लड़की चुपचाप एक टक उसे देख रही थी बिना बोले—बिना रोये जैसे वह समझ ही नहीं रही थी कि यह क्या हो रहा है या इतनी समझदार थी कि जानती थी कि यह तो रोज का रोना है—हो लेने दो। उसकी इस अवस्था पर न जाने क्यों मुझे दया आई। उसके छोटे छोटे बाल उलझ कर सुअर के बालों की तरह खड़े हो गये थे। शरीर का एकमात्र कुरता जो अनेक पैबन्दों का जोड़ मात्र था, बिना बटन के कारण पीठ पर लटक गया था। हाथ पैर सींक के समान पतले थे और पेट अच्छे खासे घड़े की तरह बढ़ गया था। इसलिये वह इस तरह खड़ी थी कि मानो पीछे की ओर कलाबाजी खाने की सोच रही है। वह बुढ़िया भी कुछ कुछ ऐसी ही थी। अन्तर केवल इतना था कि उसने एक धोती पहनी थी जो कुरते की तरह बड़े बड़े टुकड़ों का एक लम्बा जोड़ मात्र थी और कि उसकी आँखों में आँसू भी थे और जबान उसकी बड़ी तेजी से चल रही थी।

× × ×

"जब उस लड़की की बात सोचता हूँ रो पड़ता हूं। सोचता हूँ इतनी कचाई क्यों? दुनिया में न जाने क्या क्या भरा पड़ा है पर मन मानता

नहीं। जब अपने बच्चे को किलकारियाँ मारते और पूरी के टुकड़े इधर उधर बखेरते देखता हूँ तो दर्द और भी तेज हो जाता है। आखिर यह विषमता क्यों ?

विष्णु—तज़रबे

"कुछ नहीं है यह सब ! राकेश इस ढोंग को नहीं मानता। जब तक कोई व्यक्ति समाज में अपना वास्तविक अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक उस पर कोई भी नैतिक प्रतिबन्ध नहीं है। नैतिकता का अनुशासन केवल ग़रीबों से अपना स्वार्थ साधने भर के लिए है। जो ग़रीब और गुलाम होता है, उसका अहङ्कार मर जाता है, उसके हाथ-पैर शृङ्खलाओं से जकड़े रहते हैं। वह खुल कर चल फिर नहीं सकता, हँस रो नहीं सकता। प्यार करना वह क्या जाने ! सम्पन्नता और स्वतंत्रता के बिना वह पंगु है, मुर्दा, जिसके पास खाने को रोटी नहीं है, जिसके शरीर में स्फूर्ति और मन में उल्लास नहीं है, उसके पास हृदय भी नहीं है। कैसा प्यार उसके लिए ! मैं पहले रोटी चाहता हूँ, प्रेम नहीं। प्रेम तो तुम लोगों का चोंचला है, ढकोसला और तमाशा, जिनके कुत्ते मक्खन चुपड़ा टोस्ट चाभते हैं।"

भगवती प्रसाद वाजपेयी—अशोक का घोड़ा

"......तू जिस वर्ग का है वह वर्ग नित्य ही इस तरह दुनिया में पैदा होता है, असहाय, अनाहार और अकर्मण्य जीवन कुछ दिनों तक व्यतीत करता है और उतने दिनों धरती का बोझ बना रहकर एक दिन जहाँ से आया वहीं चला जाता है। तेरे आने जाने से, तेरे जीने मरने से, तेरे दुख सुख से, संसार के नियमित कार्यक्रम में मात्र एक पल को भी व्याघात संभव नहीं। तेरे मर जाने से जो कोठरी सूनी होगी कल उसी को तेरे जैसा कोई मज़दूर आकर आबाद कर देगा। तेरी जलती हुई झोपड़ी से ज्वाला की जो लपटें ऊपर उठेंगी उन्हीं में पूँजी के यह

पिशाच अपना हाथ सेकेंगे। तेरे मुँह का कौर छीन कर यह अपने कुत्तों को खिलायेंगे पर तुझे चैन से खाते न देख सकेंगे। तुम्हें जिन्हें पेट ने सता रक्खा है जिनको भूख और बेकारी ने मार डाला है—जिनकी ज़रूरतें, जिनके अभाव नंगा नाच नाच रहे हैं—जिनके दुःख की काली रातें जाड़ों की रात से भी बड़ी होती हैं—जिनके मुखों पर केवल एक माँग लिखी है—हमें रोटी चाहिये—भर पेट भोजन—वह मनुष्य कहलाने वाले प्राणी सड़कों पर पड़े, थोड़े से जूठन के लिये कुत्तों की तरह आपस में लड़ते रहें—यह अन्याय, अत्याचार, आदमी का यह अपमान हिन्दुस्तान में ही हो सकता है। हिन्दुस्तान जहाँ इतना अन्न सकट और भुखमरापन बढ़ जाने पर भी धनाधिपों के कानों पर जूँ नहीं रेंगता। जिनकी कोई ज़रूरत नहीं, जिनके बिना समाज का काम चल सकता है—जो समाज के दान पर ही पल रहे हैं उन अकर्मण्यों को आज भी आदर से, श्रद्धा से, चरण पखार कर, बिठाकर भोजन कराया जाता है, बड़े बड़े मन्दिरों में रोजाना सैंकड़ों, हजारों की पूजा चढ़ाई जाती है—परलोक सुधारा जाता है ......"

सर्वदानन्द वर्मा—(अनिकेतन)

उद्धरण आवश्यकता से अधिक हो रहे हैं। अपने पीछे तरुण कहानीकारों की यह पीढ़ी पाकर कौन महान कलाकार गौरवान्वित नहीं होगा। ये तथा अन्य प्रतिभाशाली उपन्यासकार और कहानीकार अनुभव करते हैं कि सामाजिक दर्शनशास्त्र के व्यापक सत्य से कथानक को अनुप्राणित होना चाहिये। आज वह उदार भावुकता ही जो महादेवी जी के रेखा चित्रों में उमड़ती रहती है पर्याप्त नहीं है। यह 'ह्यूमेनीटेरियन सेन्टीमेन्ट' विक्टोरियन युग के साहित्य में तो खूब फबता था परन्तु आज केवल उतने से ही सन्तोष नहीं होता जैसे कि विक्टोरियन युग का समझौते का नीतिदर्शन (Philosophy

of Compromise) आज असन्तोषप्रद है। जब तक कलाकार के नैतिक और सामाजिक विचारों का समाज की वास्तविक स्थितियों में संघर्ष नहीं होगा, आधुनिक जीवन की सामूहिक असफलताओं का बाहरी परिस्थितियों और समय की—मानव इतिहास की आर्थिक या भौतिक प्रेरणाओं से द्वन्द नहीं चलेगा तब तक कला में प्राण नहीं आवेंगे। हजारों वर्षों से समूह रूप में हमारा विकास होता आया है और उसके कारण हमारे व्यक्तित्व के साथ ही साथ इस प्रकार की वर्ग चेतना भी अनजान में विकसित हो रही है। आज जीवन के धक्के खाते खाते यह चेतना बहुत जटिल हो गई है। साथ ही यह वर्ग चेतना नाना रूपों में विकसित होती है। एक ही आदमी के अन्दर सैकड़ों प्रकार की चेतनायें काम करती हैं। ये चेतनायें सदा सामन्जस्यमय नहीं होतीं। इनके अन्दर परस्पर विरोध भी होता है। आज के कथाकारों के पात्रों के अन्तर्द्वन्द और बाह्य संघर्षों में, इन्हीं चेतनाओं के परस्पर और बाहर इतिहास की शक्तियों के साथ जाकर टकराने में हम सभ्यता का वास्तविक रूप देख लेते हैं। उस सभ्यता का जो सदियों तक दानवी शोषण और आर्थिक उत्पीड़न के शर्मनाक साये में चलते-चलते आज ढह रही है और उस सभ्यता का भी जो जनशक्ति और श्रमशक्ति के लाल अभियान की ज्योति शिखा में आकार ग्रहण करती है। साथ ही न केवल सभ्यता के आर्थिक विकास को वरन् उसके सार्वत्रिक विकास को हम उसमें देख और समझ सकते हैं। हमारे रक्त में घुले मिले विषमता के संस्कार इन कलाकारों की चोट से तिलमिला जाते हैं। इनके पात्र खास और आम दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों के प्रतीक होते हैं जो जीवित घात प्रतिघात बनकर हमारे सामने आते हैं। वे हमारे मानसिक स्तर पर निरन्तर आघात करते रहते हैं। हम सोचते ही चले जाते हैं जब कि

हमारा हृदय उनके सुख दुख में उलझा रह जाता है। सामाजिक ज्ञानवाद पर इनकी कला आश्रित है और वह कोरे भावोद्रेक को स्वीकार नहीं करती – जैसा भावोद्रेक भगवती प्रसाद वाजपेयी, उग्र और जैनेन्द्र की अधिकाँश रचनाओं में (कहानियों में) मिलता है। परन्तु इस ज्ञानवाद ने इन लेखकों की कला के प्रभावक्षेत्र को संकुचित नहीं किया है। उसने कलाकार और जनसाधारण के बीच निकटता पैदा की है। इस दृष्टि से यशपाल और चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की रचनायें सब से अधिक सफल हुई हैं। जीवन की गुरुतर समस्याओं पर मनन करने वाले हमारे ये कलाकार विचारवान हैं— भावुक भी हैं परन्तु जीवन के वास्तविक संघर्ष से कहीं ये विमुख नहीं हुए। और न जीवन की जड़ों में गहराई तक पैठी किन्तु निरन्तर ह्रासोन्मुख कृत्रिम पूँजीवादी दुर्व्यवस्था को—उसकी व्याधियों को केवल कुछ राजनैतिक सुधारों की मुखापेक्षी मात्र वे मानते हैं। सर्वत्र क्रान्ति और आमूल परिवर्तन की उनकी माँग है। जिस द्रुतगति से बाह्य उपकरण परिवर्तित हो रहे हैं—जीवन की स्थितियाँ बदल रही है उसी तरह मन की भावनायें और गहन अवस्थायें भी बदलती रहती हैं। परन्तु उनके निकट स्वप्नजगत या आदर्श और वास्तविक जगत या यथार्थ का अन्तर स्पष्ट होगया है। एक उग्र सामाजिक दार्शनिकता और देश काल की परिधि से ऊपर उठकर प्रसार पाने वाला विश्वबोध उनकी रचनाओं में जगमगाता रहता है। कहीं भी करुणा, दुःख और नैराश्य के भीतर से, शोषण, हाहाकार और बढ़ती गरीबी के माध्यम से उन्होंने आध्यात्मिक सम्बल नहीं माँगा। इस दृष्टि से प्रेमचन्द काफी पीछे छूट गये हैं और सच्चे अर्थों में कहानी और उपन्यास में युगान्तर हुआ है। हिन्दी कथा साहित्य इस दृष्टि से उर्दू के कथा साहित्य के समानान्तर चल रहा है यद्यपि भाषा में वह पुरशोर रवानी अभी आने को

है। सारा समाज आप आइने की तरह साफ यहाँ देख सकते हैं। इस द्वन्द्व जर्जर युग के लिये इनके पास केवल एक ही सन्देश है—सड़ी हुई आचारनिष्ठा, समाज संगठन और अर्थप्रणाली का नाश—श्रेणीहीन समाज की स्थापना और सब के सुख का—सब की न्यूनतम माँगें पूरी किये जाने का राजकीय आश्वास। इसे ही हम collective good कहते हैं। और आर्थिक विषमता से त्रस्त महान भारतीय मानवता के लिये—सदियों से बाहरी और भीतरी गुलामी के चक्र में पिसने वाली—घुटने वाली संसार की इस दूसरी सब से बड़ी सर्वहारा के लिये इससे बड़ा बलप्रद, जीवनदायक और कल्याणकारी सन्देश क्या हो सकता है। और यह सुधारवाद से नहीं, अचेतन विकासवाद से नहीं वरन सच्ची साम्यवादी क्रान्ति से होगा जिसे रोकना 'अज्ञेय' के शब्दों में समाज, राष्ट्र, देश, जाति और मानवता के सामूहिक दुःख की अवहेलना करना है।

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम ! सूर्य का उदय होता है, उसको रोकने की चेष्टा की है ? समुद्र में प्रलयलहरी उठती है, उसे रोका है ! ज्वालामुखी में विस्फोट होता है—धरती काँपने लगती है, उसे रोका है ! क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिवान, प्रलय से भी अधिक भयंकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है।......उसे क्या रोकोगे।"

"स्पष्ट है कि यह क्रान्ति जन-क्रान्ति होगी और अज्ञेय जैसे क्रान्तिवादी जो अपने ऐकान्तिक अहम् और आसक्तियों और विरक्तियों की विवेचना में ही मग्न रहते हैं, प्रतिभाशाली होने के कारण इस क्रान्ति के वेग की कल्पना तो कर सकते हैं परन्तु उसके सच्चे सामाजिक रूप को अपनी कृतियों में नहीं उतार पाते। इस लोकक्रान्ति में

समस्त सामाजिक शक्तियों का केन्द्रीकरण होगा और व्यक्ति के समस्त उत्पादक प्रयासों, चेष्टाओं और प्रेरणाओं का सामाजीकरण होजायगा। इसलिये आवश्यकता है समाज को फिर से बनाने की और सभी पीड़ित, शोषित वर्गों के एक साथ मिलकर राजनैतिक और सामाजिक आज़ादी के लिये लड़ने की। तभी एक महान सोशलिस्ट मानवता का निर्माण हो सकेगा। साहित्य को इसी नये जीवन के अंकुर व्यक्ति व्यक्ति की मनोभूमि में पैदा करना है। उसे जनता को शोषण, दोहन और अधःपतन के श्मसान घाट तक पहुँचाने के लिये रास्ते का पड़ाव नहीं बनना है। घृणा और कष्ट से स्थिर होरही जनता की आँखों में उसे फिर से जीवन का उष्ण प्रवाह संचालित करना है। विश्व साम्राज्य-वाद का विनाश और स्वतंत्र जातियों के सुखी परिवार की स्थापना करने का जो अथक प्रयत्न आज इतिहास के इन सबसे खूँखार युद्ध के भीतर से होरहा है उसका एक महान अस्त्र साहित्य है और हमें इस अस्त्र को इस्पात की तरह कठोर और निर्मम बनाना है ताकि शोषित वर्गों की गुलामी और यन्त्रणा की बेड़ियाँ काटी जा सकें। आज जब मानवता ही पूँजीपतियों और मज़दूरों के महान संघर्ष की तूफानी परिस्थितियों के बीच से होकर गुजर रही है तब साहित्य जो मानवता के कल्याण का अनुचर है क्रान्ति की आग में तपने से कैसे बचेगा?

परन्तु प्रेमचन्द के बाद आनेवाले इन तरुण और वयस्क दोनों प्रकार के कलाकारों में एक बड़ी कमी है। प्रेमचन्द के पात्रों में हम उनके आदर्शों को जीवन में व्यवहृत देखते हैं। प्रेमचन्द ने आदर्शों को जिस प्रकार जीवन से छानकर हमारे सामने रक्खा वैसे ये कलाकार नहीं रख पाते। प्रेमचन्द के पात्रों में हम आदर्शों और कल्पनाओं को जीवन रूप में पाते हैं। इसका एक मौलिक कारण है। मध्यवर्ग और किसानों के बीच में जो अन्तर है वह प्रेमचन्द के लिये जैसे था ही

नहीं। इसलिये मध्यवर्ग के प्राणी होते हुए भी उन्होंने अपने से नीची श्रेणी का जीवन से छलकता हुआ चित्रण किया है। जनता के साथ यह तादात्म्य, यह साधारणीकरण अभी हमारे इन भविष्य-नियामक लेखकों को प्राप्त करना है। "जो शताब्दियों तक उपेक्षित और पददलित ही नहीं बने रहे वरन परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे—हजारों वर्षों के भारतीय साहित्य में जिनकी आशा, आकांक्षा, सुखदुख सूझबूझ और अश्रुहास की चर्चा नहीं के बराबर हुई उनके यथार्थ परिचय का अर्थ है देश की वास्तविक समस्याओं की जानकारी"। और हमें आशा करनी चाहिये कि हमारे नये लेखकों में यह जानकारी अधिकाधिक बढ़ती जायगी। जब यह जानकारी वास्तविक जीवन के माध्यम से होगी तभी कलाकारों द्वारा उपस्थित किये आदर्श और यथार्थ हृदय पर स्थाई प्रभाव अंकित करने वाले होंगे।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा में अन्तस्थ और शैली दोनों में नवीनतायें और परिष्कृतियाँ आई हैं। परन्तु अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करती हुई इतनी महान जनता की अजेयता के सबल और सक्षम स्वर हमें उसमें कम ही सुन पड़ते हैं। एक ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था और अर्थनीति, नैतिक मान्यता और आचारिक स्थिरता का चित्र बड़ी शक्तिपूर्ण दृढ़ता के साथ खींचा गया है। परन्तु उन नई शक्तियों और जनशक्तियों को कम देखा गया है जिनके हाथ में भविष्य है। एक चेतनाशील और संगठित हो रही जनता और उसके सशक्त मनोबल पर आधारित प्रगति की प्रवृत्तियों का स्वस्थ्य आकलन अब भी हिन्दी कथा साहित्य में कम होता है। जनता में आज़ादी की, समाजवाद की उमंगें लहरा रही हैं, चारों ओर आर्थिक अत्याचार, राजनैतिक पराधीनता, सामाजिक दमन और नैतिक अनुदारता के विरुद्ध प्रबल लोकमत और जनविचार संगठित हो रहे हैं—अपने रक्त

की नदियाँ बहाकर जनता ने इस अभियान को जारी रक्खा है—विश्व से सदा के लिये भूख और गरीबी, पराधीनता और अशिक्षा, युद्ध और रक्तपात को निर्वासित करने के लिये जो यह महान जनयुद्ध चल रहा है—रक्त की असख्य नदियों से बने इस आत्मोत्सर्ग के महासिन्धु की ओर हमारे कलाकारों की दृष्टि अब भी कम जाती है। केवल प्रभाकर माचवे की दो एक कहानियों में यह प्रवृत्ति सफाई के साथ उभरी है। भगवती प्रसाद वाजपेयी, यशपाल और चन्द्रकिरण जैसे कलाकार जो तर्क और बुद्धि की दृष्टि से समाजवादी हैं अब भी अपने कथासाहित्य में घरेलू जीवन की परिधि से बाहर नहीं आ रहे। हमारा सामाजिक जीवन क्या आज इतना अवरुद्ध हो गया है कि आगे के लिये प्रगति असम्भव है ! या फिर वही सनातन त्रिकोण बार बार उभर कर उपन्यासों और कहानियों में आवेगा। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और सर्वदानन्द वर्मा के उपन्यास गृहस्थ जीवन और व्यक्तिगत समस्याओं की छानबीन में ही समाप्त हो जाते हैं। आखिर हमारे जीवन में और भी बहुत सी बातें हैं। देश और समाज में वे शक्तियाँ भी तो उठ चुकी हैं जो जनता को प्रोत्साहित कर रही हैं कि वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये आगे बढ़े—संघर्ष करे और अपने भाग्य को अपने हाथों में ले। इन्हें क्यों हमारी कला में विवेचनात्मक अभिव्यक्ति नहीं मिलती ! प्रेमचन्द ने अपने युग की इन प्रगतिवाहिनी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया है। आज के कलाकारों पर यह जिम्मेदारी और गंभीरता के साथ है जिसके पालन में उन्हें घोर ईमानदार होना पड़ेगा। निर्माण के पथपर अग्रसर सामाजिक मानव के आत्मबल का उद्घाटन कथासाहित्य की आज पहली माँग है।

प्रेमचन्द के बाद के कथासाहित्य की एक और प्रमुख प्रवृत्ति है यौन सम्बन्धों और यौनआचारों की ओर आसक्ति। यहाँ एक बात

कह देना अच्छा होगा—प्रेमचन्द की भाँति ही सब लेखक desexed हो जाँय ऐसा आग्रह नहीं है । परन्तु यौन दुराचार को ही अपनी लेखनी का विषय बना लेना और पूँजीवादी गलित समाज की बुराइयों से उत्पन्न वैयक्तिक कमज़ोरियों से फायदा उठाने की चेष्टा करना (जैसा पहाड़ीजी ने अपनी कहानी पुस्तक 'यथार्थवादी रोमान्स' में या अन्य अधिकांश कहानियों में किया है) अभीष्ट नहीं है । सेक्स का यही 'आबसेशन' हमें दुःख है यशपाल जैसे कलाकारों में भी मिलता है जिनसे हम आशा करते हैं कि एक दिन वे प्रेमचन्द की भाँति ही हिन्दी के दूसरे प्रतिनिधि कलाकार होंगे । जिस ठोस जीवनभूमि या साकार प्राण-माध्यम के आधार पर प्रगति होती है वह निरुद्देश्य नहीं है जहाँ प्रत्येक समय यौनविकारों की ही छानबीन की जाय । यह काम तो उन्हें पं० इलाचन्द्र जैसे कलावादियों या पहाड़ी जैसे सेक्स विकृतियों के अन्वेषक के लिये छोड़ देना चाहिये । प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कलाकार होने के नाते यशपाल और भगवतीप्रसाद वाजपेयी का तो केवल एक ही महान लक्ष्य होना चाहिये :—हमने संसार को जैसा पाया है उससे बेहतर हालत में आने वालों के हाथों में देना है । जिसके ऊपर इतनी बड़ी जिम्मेदारी हो—जिसके पास समाजाभिमान का ऐसा दृढ़ कवच हो—जिसके लिये साहित्य दुनिया की धूर्तता, मक्कारी, शोषण, लूट, लम्पटता के विरुद्ध संग्राम करने का सब से प्रमुख अस्त्र हो वह कभी यौन दुर्बलताओं और दुराचारों के चित्रण जैसी सस्ती सफलताओं के पीछे नहीं दौड़ेगा । दूसरी ओर हमें उस आश्रम-वासिनी सरलता और भोलेपन का दावा भी नहीं करना है जो साहित्य और कला में यौन सम्बन्धों का ज़िक्र भी नहीं स्वीकार करती और देवदासी की भाँति यौवन और मानव की इस सर्वथा नैसर्गिक और स्वस्थ्य प्रवृत्ति को वर्जित निष्प्रयोजना और निस्सार मानती है ।

परन्तु प्रगतिवाद के नाम पर मानसिक-स्वरति और स्वयोग का चित्रण कलाकार के लिये शुभ लक्षण नहीं है। मनोविश्लेषण के जानकार हमारे कलाकार यह भूल जाते हैं कि वह एक मानसिक चिकित्सा की प्रणाली है और केवल रोगी और विकृत मस्तिष्कों और मनों पर ही लागू होती है। परन्तु उपन्यास या कहानी के हर पात्र पर उसका प्रयोग करना और अच्छे खासे स्वस्थ्य, सामाजिक-बलसंयुक्त पात्र को उसका शिकार बना देना स्वतः एक विकृति है। फिर इन विकृतियों को लेकर अकल्पनीय कल्पनायें करना और युग, समाज, देश और संसार—समूची मानवता को उन्हीं गंदगियों का शिकार देखना—सृष्टि भर के मनोविज्ञान को अहंवाद, विकृतिवाद या हत्यावाद का रोगी मान कर उसके लिए समाधान और उपचार बताना अत्यधिक भावुकता का ही द्योतक है। यहाँ प्रेमचन्द के वे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने एक मित्र को लक्ष्य कर कहे थे (अपनी ऐसी ही एक abnormality के कारण वे मित्र आज एक क्रिमिनल केस में सजा पाकर जेल में बन्द हैं) "उन्हें अपने आप में डूबे रहने और अपनी कटुताओं से सदा जीवन को कटु बनाने का यह मरज़ है जो एक ओर साहित्य की जान है तो दूसरी ओर उसकी मौत भी है।" इसलिये हमारे कथासाहित्य में यह ओछा, अस्वस्थ्य आत्मचिन्तन जितना ही कम आवे उतना ही अच्छा। यह भी एक प्रकार का कल्पनालोक है जहाँ से उतरकर कलाकार को यथार्थ के ठोस संसार में आना पड़ता है—यदि वह प्रतिगति का प्रतीक बनकर नहीं रह जाना चाहता।

समाज एक मौलिक शक्ति है और अर्थ-नीति तथा संस्कृति सामाजिक शक्तियों की मुखापेक्षी होती हैं। कला के गुण और कर्म का सामाजिक आवश्यकताओं से सीधा सम्बन्ध होता है। इसलिये सामाजिक अवस्थितियों के मूलाधारों को जो कथा प्रकट नहीं करती या उन्हें

सांस्कृतिक प्रवाह के वैयक्तिक सहगामी के रूप में नहीं देखती वह अपने उद्देश्य को अस्वीकार करती है। वही कथा कला की संज्ञा पाती है जो प्रगति की परम्परा को बल देती है। इस बल का स्रोत कथाकार के दिल या दिमाग में उतना नहीं है जितना उस सत्ता में जो प्रगति को शक्ति देती है—आशय है जनता। क्योंकि कलाकार जनता का ही एक अंग है—अंग तो एक बड़ा शब्द है—एक जीवकोष या cell है और स्पष्ट है कि यह भाग या अपूर्ण या कण अपने पूर्ण से ही शक्ति संचय करेगा। महान प्रेमचन्द ने इस महासत्य को जान लिया था और उसे ही जीवन भर live किया था। हमारे नये कलाकारों को इस सत्य को कभी भूलना नहीं चाहिये। अभिव्यक्ति की नई नई शैलियाँ वे ग्रहण करें, टेकनीक में जो भौतिक विकास का ही परिणाम होता है वे चाहे जैसे जैसे प्रयोग करें परन्तु उनकी कला जनता की हो और जनता के लिये हो। और जनता भी वह नहीं जो एक या दो शताब्दी पूर्व थी वरन आज की जनता जो जागरूक और प्रबुद्ध है—जिसके अन्दर युग युग के संचित अनय, अनादर, अविश्वास, लूट, धोखा, प्रतारणा, शोषण और रक्तपान के लिये प्रतिहिंसा है—जो कठिनाइयों से जूझती है और वर्गहीन, श्रेणी-रहित समाज स्थापना के लिये जिसका आग्रह उत्तरोत्तर तीव्र और दृढ़ हो रहा है—जो मानवता को पीस डालने वाले ज्ञान और तज्जनित अवसाद, निरुत्साह और विराग की भूखी नहीं वरन कर्म और क्रांति की अनुगामिनी है। प्रेमचन्द की यही महान समाजवादी परम्परा है जिसे हमारे तरुण कलाकारों को पूर्ण और यथार्थ बनाना है।

प्रगतिवाद का जीवनदर्शन

प्रगतिवादी के सामने सब से पहली समस्या है उस समाज को बदलने की—सुधार के द्वारा नहीं वरन् साम्यवादी क्रान्ति के माध्यम से—जो मनुष्य के मनुष्यत्व को पगपग पर प्रताड़ित करता है। व्यक्तिगत रूप से तो मनुष्य ऐसे विघटन के चक्र में पड़ कर मनुष्य बने रहने का यत्न करता ही है पर कभी-कभी यह भी देखा गया है इस क्रिया के फलस्वरूप उसमें असामाजिक बनकर, समाज की शक्तियों से अर्थहीन विद्रोह और मूक असन्तोष प्रकट करके असहयोग की प्रवृत्ति भी जाग्रत हो उठती है। साहित्य जो सहितता की दीक्षा देता है और व्यक्तिगत सुख दुख, लाभ हानि जीवन मरण और यश अपयश से ऊपर उठकर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का पथ प्रदर्शित करता है सब से पहले समाज के आर्थिक और श्रम-स्वार्थों की रक्षा करता है। साहित्यिक प्रगतिवाद का जीवनदर्शन मार्क्सवाद का जीवनदर्शन है। यह वही जीवनदर्शन है—वही सजीव मानवविज्ञान है जिस के लिये प्रो० हाल्डेन के शब्दों में कोटि-कोटि नरनारी जीवित रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिये अपने प्राण तक अर्पित कर देते हैं। यह जीवनदर्शन बुद्धि-तत्व की दृष्टि से भी सजीव और विकासशील है। यह जीवनदर्शन एक वर्गहीन, वर्णहीन, श्रेणीहीन समाज की स्थापना की पहली और आवश्यक शर्त मानता है। कारण स्पष्ट है। वर्गहीन समाज में ही मानवता के सामूहिक हित की साधना हो सकती है। जब तक समाज में श्रेणी-भेद बना

रहेगा तब तक शक्ति के लिये भिन्न भिन्न वर्गों में संघर्ष भी चलता रहेगा और वह वर्ग सदैव शक्तिशाली रहेगा जो पैदावार के साधनों पर स्वामित्व स्थापित कर लेगा। साहित्य और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध की अटूटता का आज यह रूप हम सदियों से देखरहे हैं कि साहित्य सदैव उसी वर्ग का सेवक और अनुचर रहा है जिसका सामाजिक और राजनैतिक प्रभुत्व रहा है। यही नहीं उस वर्ग ने सदैव साहित्य की गति में—साहित्य के सत्यों और यथार्थों में अपने स्वार्थों का ही संगीत भरा है। अन्तरात्मा की प्रबल आवाज के नाम पर संस्कृति, धर्म, समाज और नैतिकता का निषेध करने वाले व्यक्तिवादी लेखकों ने प्रत्येक देश में जो खुदी की फिलासफी सुनाई है उसके मूल में भी समाज के शक्तिशाली वर्ग या पूंजीवादी वर्ग द्वारा की गई साहित्य को जन-कल्याण और जन-आन्दोलन का अस्त्र न बनने देने की चेष्टा ही दृष्टिगोचर होगी। अन्तरात्मा के इस क्षेत्र को बिलकुल व्यक्ति-गत कह कर उसे किसी भी आदर्श के लिये अति गम्भीर और सुसम्पूर्ण घोषित करके उसे केवल अपने अहं परितोष की भीतरी लालसाओं की क्रीड़ा भूमि मानकर, विश्व कल्याण के सब से बड़े आर्थिक आदर्शों के लिये वहाँ स्थान नहीं—ऐसा कहकर जो अहंवाद साहित्य पर लादा जाता है वह उन्हीं आदर्शों जैसा छूँछा और खोखला है जो निःस्व और नकारात्मक हैं। जैसे भारतीय विधवा का परम्परा-पोषित मरण-शील आदर्श है जो समाज की इतनी बड़ी जीवनीशक्ति और सौख्य-उत्पादिका प्रवृत्तियों का हनन कर देता है।

प्रगतिवाद का जीवनदर्शन परिवर्तन से सम्बन्ध रखता है। परिवर्तन वह प्रबल शक्ति है जो जन-जीवन की सुसुप्ति को चीरकर उसे सचेत करती और आगे बढ़ाती है। जो दुर्बल सामाजिक इकाइयाँ सामाजिक परिवर्तनों से भय खाती है और उनकी अनुगति से चिंतित हो उठती हैं

उन्हें यह न भूलना चाहिये कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शक्तियाँ जब समाज पर लागू होती हैं तब स्वाभाविक निष्कर्ष यही निकलता है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था नाकाम हो रही है। और बजाय इसके कि ये द्वन्द्वात्मक शक्तियाँ यह प्रतीक्षा करें कि शासक वर्ग स्वयं इस आर्थिक व्यवस्था में एक आमूल परिवर्तन की संभावना और आवश्यकता अनुभव करेंगे—वे श्रमजीवी वर्ग को एक क्रान्तिकारी संघर्ष के लिये प्रस्तुत कर देती हैं। इसलिये जो समाजवादी यह सोचते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर रेलवे, खानें, भूमि, बेन्क इत्यादि के क्रमशः राष्ट्रीयकरण से धीरे धीरे समाजवादी विकास हो सकेगा वे उन समाजवादियों की निराशा और बेबसी को भी देखें जो पिछले महायुद्ध में इसलिये लड़े थे कि छोटी जातियों और राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा होगी और जनतन्त्र के लिये संसार सुरक्षित हो जायगा। उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि स्टेट भी अपनी नींव में श्रेणी संघर्ष का ही फल है जो श्रेणी विशेष को बल और शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर बिठाये रखती है। प्रो॰ हाल्डेन के शब्दों में यही कारण है कि अँगरेज़ी साम्राज्यवाद आत्महत्या भले कर ले परन्तु अपने श्रेणी-विन्यास में परिवर्तन न आने देगा।

प्रगतिवादी जीवन दर्शन की चर्चा हो रही थी। इस जीवन-दर्शन में कहीं भी उन सुखद विश्वासों के लिये स्थान नहीं है जो मानव को यह समझा कर जड़ और स्थिर कर देते हैं कि उसकी सारी आपत्तियाँ, आर्थिक कठिनाइयाँ और मुसीबतें बदले हुए वेश में वरदान हैं। न उसमें उसी बोध के लिये स्थान है जो जीवन की कोई अनन्त-हेतुता मानता है। आत्मा की नित्यता अनित्यता, अमरता, क्षणिकता का उसके निकट स्थान और चिन्तन नहीं है। उसे किसी भी ऐसे मत की खोज नहीं है जो उसे सन्तुष्ट करता रहे कि जो हुआ है अच्छे के लिये

हुआ है—जो होता है अच्छे के लिये होता है और अमुक अमुक मत के अवलम्बन से ही अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है। शायद किसी अतिकष्टदायक असाध्य रोग के होजाने पर यह होता हो या जीवन का सब से बड़ा मानसिक सपना टूट जाने पर इस तरह की विकृतियाँ पैदा हो जाती हों और ब्रह्म में लीन होने की आवश्यकता बढ़ जाती हो। इसी लिये इस प्रकार के आराम देने वाले विश्वासों में, जो जीवन में एक निष्क्रियता और अवरोध का सृजन करते हैं प्रगतिवाद को कोई दिलचस्पी नहीं है। कारण स्पष्ट है। इस प्रकार का कोई भी मत जो सृष्टि के रहस्य भेद का उद्‌घाटन करने का यत्न करता है अपनी स्थिति और मानवता की स्थितियों में सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर पाता है। परन्तु प्रगतिवादी जीवनदर्शन का अटूट विश्वास उस क्रिया में है—उस विशेष क्रिया में है जो जीवन की सामूहिक किया का ही अंश है—मानवों के उन प्रयत्नों में है जो वे जीवित रहने के अतिरिक्त करते हैं—अर्थात अपने अनुभवों और संघर्षों को चुन कर और उनका विश्लेषण कर इस विश्लेषण के द्वारा अपने आगामी अनुभवों को अधिक आनन्द-गामी स्तर पर निरूपित करते हैं। यहाँ आनन्द का उपयोग उसके अधिक से अधिक विस्तृत अर्थ में हो रहा है। जीवन, स्वाधीनता और सुख प्राप्ति यही मानव चाहता है—यह सब मानव चाहते हैं। कारण मैं इनकी चाहना करता हूँ और सोचता हूँ मानव इन बुनियादी मामलों में अधिक भिन्न नहीं होता। मैं बराबर यह देखता और सुनता हूँ कि मनुष्य के सारे प्रयत्न इन्हीं तीनों की प्राप्ति की ओर बढ़ते हैं। परन्तु प्रगतिवादी यह देखता है कि मानवता के इतिहास में मानव जाति के सबसे बड़े भाग को अब तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लग-भग या आसपास भी पहुँचने में सफलता नहीं मिली। मालूम नहीं दुनिया तब कैसी होगी जब सम्पूर्ण मानवजाति को निश्चित और

उचित जीवन-दशायें प्राप्त हो जॉयगी। परन्तु इतना तो तय है कि उस दशा में मनुष्य अधिक निश्चिन्तता, मनोयोग और लगन के साथ जीवन की कठिन और आवश्यक समस्याओं को सुलझा सकेगा। ऐसी सन्तोषप्रद जीवन-दशाओं की प्राप्ति मानवता के इतिहास में एक नया युग ला देगी जिसके प्रकाश में हमारे आज के प्रश्न बहुत तुद्र प्रतीत होंगे। इसलिये आज बीसवीं शताब्दी के कवि और लेखक के सम्मुख इससे बड़ा और कौन काम हो सकता है कि वह उस महान संघर्ष में भाग ले जो संसार को अधिक निश्चित और शान्त बनाने के लिये किया जा रहा है। और यही वह प्रगतिवाद है जो एक कार्याश्रित जीवनदर्शन के आधार पर खड़ा है।

स्पष्ट है प्रगतिवादी जीवनदर्शन उन समस्त शक्तियों और सिद्धान्तों का साथ देता है जो जन-जीवन और लोक-जागृति की क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। ऐसे सिद्धान्त होते हैं यह हम जानते हैं। इन सिद्धान्तों के बिना कोई भी सुव्यवस्थित अस्तित्व और जीवन संभव नहीं। यह भी स्पष्ट है कि केवल सुव्यवस्थित जीवन ही सृजनशील होता है—भले ही यह सृजन केवल सुख का हो। मस्तिष्क के साथ जीवन-दर्शन का वही सम्बन्ध है जो स्वास्थ्य की क्रियाओं का शरीर के साथ है। चेतन मानवीय मस्तिष्क की सब से सबल और ओजक्रिया है—जीवन का अंगीकरण—अस्वीकरण नहीं जैसा अगतिवादी जीवन-दर्शनों में देखा जाता है। विश्व एक सतत चालना की स्थिति में रहता है और मस्तिष्क भी जैसा कि वैज्ञानिकों का कहना है। और यह चालना दो पोल्स (poles) के बीच की कश-मकश है जिन्हें विश्व की दो अमर शक्तियाँ कह सकते हैं। एक है जीवन की धनशक्ति और दूसरी मरण की ऋणशक्ति। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समाज के भीतर जीवन और मृत्यु की ये दो विरोधी शक्तियाँ

होती है—रहती और संघर्ष करती है। जीवन उस शक्ति का नाम है जो आगे बढ़ती है—जो स्फूर्त और सक्रिय है—अपने में उफना रही है—जो अपने में आवेगों से भरी है- अपने आप जीवित रहती है और बढ़ती है और जिस किसी भी वस्तु को स्पर्श करती है—जिसके संसर्ग में आती है उससे पोषक तत्व लेकर वह विकसित होती है और किसी भी उत्तेजना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया धनरूप (positive) होती है। मृत्यु से यहाँ उस शक्ति का बोध है जो पलायनशील और स्थिर है—जो अपने में शान्त हो जाती है—जो श्रम की ओर से अपने आप या अन्य किसी भी स्पर्श से सिकुड़ जाती है और बाहरी उत्तेजनों के प्रति जिसकी प्रतिक्रिया ऋणमय (negative) होती है। आग्रह यह नहीं है कि जीवन केवल क्रियाशीलता है। उद्देश्यहीन क्रियाशीलता मृत्यु का ही एक रूप हो सकती है। परन्तु जब जीवन को क्रियाशील शक्ति और मृत्युको क्रियाहीन शक्ति कहा जाता है तब आशय स्पष्ट हो जाता है। जीवन और मृत्यु दोनों में शक्ति होती है—जीवन में क्रिया की और मृत्यु में क्रियाहीनता या आलस्य की। क्रिया और आलस्य या निष्क्रियता ये दो शब्द परस्पर-विरोधी नहीं हैं जैसा मामूली तौर पर समझा जाता है। निष्क्रियता में भी एक पलायन की शक्ति होती है। यदि कोई आदमी ऐसे वर्ग में रह चुका हो जो जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अपना दर्शन मानता हो तो वह इसे समझेगा। हमें संयोगवश ऐसे लेखकों और कवियों का साथ पड़ता रहता है। ऐसे व्यक्ति जो मृत्यु को अपना दर्शन बना लेते हैं, निष्क्रिय रह कर और किसी भी बाह्य उत्तेजन के प्रति क्रियाहीन होकर एक ऐसी क्रिया करते रहते हैं जो उनके अन्दर की इस निष्क्रियता के बराबर की ही जीवनीशक्ति का प्रतिकार किया करती है। स्थिर रहने में भी एक शक्ति होती है और उस शक्ति की प्रचंडता

निष्क्रियता के परिमाण के अनुपात में घटती बढ़ती रहती है।

अब फिर मूल विषय पर आना है। मानव को हम इस प्रकार दो बुनियादी तत्त्वों में बाँट सकते हैं। एक वह जो जीवन को आराध्य-शक्ति मानकर चलता है और दूसरा जो मृत्यु को जीवनदर्शनशक्ति के रूप में चुनता है। जब कोई मनुष्य इन दोनों के बीच में चुनाव करता है तो मानो अपने ही दो हिस्सों के बीच में चुनाव करता है। मानव जैसे ही पैदा होता है या गर्भ में आता है वैसे ही जीवन और मृत्यु की शक्तियाँ अपना विरोधी कार्य उसके भीतर आरम्भ कर देती हैं। यहीं से उसके अस्तित्व का आरम्भ होता है और कभी वह एक शक्ति के सम्मुख झुकता है—कभी दूसरी के सम्मुख। लेकिन वह पूर्ण रूप से इन्हीं दोनों से मिल कर नहीं बना है। वह अलग एक जीवित अस्तित्व है और उसकी एक इच्छा होती है जो इन दोनों शक्तियों से अलग रहती है। यदि इच्छाशक्ति न सही तो कम से कम एक आकाँक्षा अवश्य रहती है जो इन दोनों शक्तियों से भिन्न होती है और जो आगे चल कर एक प्रबल इच्छाशक्ति में रूपान्तरित हो सकती है। परन्तु वह चुम्बक की सुई की भाँति दो विरोधी शक्तियों के बीच में घूमा करती है। यह द्वैत विश्व में—सृष्टि में हर जगह स्वीकार किया गया है—न केवल प्रकृति में ही वरन मानव मस्तिष्क और आत्मा में भी। प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक धर्म में इसे महत्त्व दिया गया है। मानव के भीतर छोड़ कर हमें धार्मिक और दार्शनिक अभि-व्यक्तियों में प्रकट इस द्वैत को यहाँ नहीं देखना है। प्रश्न तो यह है जो प्रत्येक मानव के मानस में उदित होता है—क्या जीवन जीने योग्य है? यदि हम यह निश्चित करते हैं कि हाँ वह है तो हमारी क्रियाशक्ति प्रबल पड़ती है। यदि नहीं तो हमारी निष्क्रियता की शक्ति विजयिनी होती है। अन्तिम रूप में हम कभी जीवन के प्रति चेतन नहीं

हो पाते क्योंकि हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व मृत्यु की जड़ता से पूरित रहता है।

प्रगतिवादी जीवनदर्शन में इस जड़ता और निष्क्रियता के लिये रंचमात्र स्थान नहीं है। वह तो प्रत्येक प्रकार से प्रत्येक स्थान पर जीवन को ही प्रश्रय देता है। उसमें मनःस्थिति और वाह्यस्थिति चाहे जैसी भी हो पर वह तो जीवन और केवल जीवन का चुनाव करता है। उसके लिये वास्तविकता वही है जो घटित होती है। अपने होने के अधिकार से ही कोई वस्तु नहीं होती या रहती। सब का एक उद्देश्य है। प्रकृति के पीछे और कुछ नहीं है यद्यपि प्रकृति में ही अभी इतना अधिक है जिसकी इस समय हमें ज्ञात अंश से कोई तुलना ही नहीं हो सकती। न तो कोई चीज़ अतिप्राकृतिक है और न उसका आध्यात्मिक स्थिरीकरण हो सकता है। हमारा मस्तिष्क ही सबसे बड़ी यथार्थता है और मस्तिष्क अपने वर्तमान रूप में आनेके पहले 'मैटर' था। हमारे दिमागके उत्तेजनों और विचारों में यथार्थता प्रतिबिम्बित होती है परन्तु अपूर्णता के साथ। हम सदैव अखण्ड, सम्पूर्ण सत्य की ओर अधिकाधिक निकट जा रहे हैं परन्तु पूरा रास्ता—पूरा फासला कभी हल नहीं होता। यथार्थता असंगतियों और विरोधाभासों से भरी है। जब हम कहते हैं पृथ्वी चल रही है और पृथ्वी स्थिर है तब हमारे दोनों कथन अपने भिन्न भिन्न ढंग पर सत्य होते हैं और यथार्थता के अनुरूप रहते हैं। उसी तरह मानव अच्छा भी है बुरा भी। एक तीसरी धारा उस साहित्यिक 'सिनिसिज़्म' की है जो बतलाती है कि न मनुष्य अच्छा है, न बुरा वरन् वह थोड़ा बेवक़ूफ है।

प्रगतिवादी जीवनदर्शन का मूल मंत्र है परिवर्तन। यह परिवर्तन एक सतत क्रिया के रूप में आ सकता है और एक आकस्मिक विस्फोट के रूप में भी। परन्तु सृजनात्मक परिवर्तन सदैव संघर्ष के

भीतर से आता है। मनुष्य सुख और सुविधाओं से घिरा रहने पर भी अच्छा नहीं हो सकता। प्रलोभनों और कठिनाइयों से जूझ जूझ कर ही वह निखरता है और अच्छाई की ओर बढ़ता है। गीता का कर्म-योग यहाँ भी सुरक्षित है परन्तु वह निष्काम नहीं है। सब से महत्व-पूर्ण संघर्ष और आपसी तोड़फोड़ समाज के भीतर है और सब से महत्वपूर्ण परिवर्तन भी समाज के भीतर से उगते हैं। समाज के लिये सब से मूल प्रश्न पैदावार या उत्पादन के तरीकों का है। पूँजीवाद की शक्तियाँ इसलिये नहीं प्रबलतर होती गईं कि पूँजीवादियों ने कृषकों की जमीन या श्रमिकों के हथियार छीन लिये वरन् इसलिये कि पूँजीवादी व्यवस्था सामन्तवादी समाजव्यवस्था और अर्थ-प्रणाली से अधिक उपयोगी और हितकारणी थी। और पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त न केवल इसलिये होगा कि वह समाजवाद की तुलना में कम उपयोगी और कल्याणप्रद है वरन् इसलिये भी कि उसमें उसके विनाश के बीज छिपे हैं। आधुनिक युग के महान आर्थिक चक्रों और संघर्षों में पड़ कर वह आप से आप टूट रही है। साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था अपनी एक स्वतंत्र विचार-प्रणाली, कानून, चिन्ताधारा, राजनीति, समाज-विज्ञान और आचार-नीति विकसित कर लेती है। आज हम चेष्टा करने पर भी मध्ययुगीन मनुष्य की तरह नहीं सोच और समझ सकते। परन्तु मानव अर्थशास्त्र या अन्य किसी प्रकार के भाग्य का गुलाम नहीं है। स्वाधीनता मानव के लिये सब से बड़ी आवश्यकता की स्वीकृति है। इसलिये आज जब लेखक और कवि या संक्षेप में समस्त बुद्धिजीवी और मसिजीवी यह देख और समझ रहे हैं कि पूँजीवाद नष्ट हो रहा है तो कितना अच्छा हो यदि वे उस अर्थशास्त्र-दर्शन या राजनीति-दर्शन को समझें जिसकी उठती हुई शक्तियाँ पूँजीवाद के लड़खड़ाते चौखट को

तोड़ रही हैं। यदि हम सब समझ कर और सोचकर आगे बढ़ें तो इस महान परिवर्तन को बड़ी सहूलित और शान्ति से मानव समाज में घटित कर सकते हैं। यदि हम इस ओर से निरपेक्ष रहते हैं और इस decayed house के गिरने की प्रतीक्षा में बैठ जाते हैं तो दो संभावनायें हैं। एक तो फैशिज्म है जो मानव के सांस्कृतिक और आर्थिक मूल्यों को नीचा कर देगी--अनन्त अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को जन्म देगी और अन्त में एक महान जनसंहार और विनाश होगा। दूसरी सम्भावना एक लम्बा और रक्तपात से भरा हुआ गृहयुद्ध है जैसा कि रूस में हुआ था। परन्तु प्रगतिवादी जीवनदर्शन आशावादी है और उसकी मान्यता है कि जनता एक तीसरा मार्ग—अर्थात् जाग्रत विवेक का मार्ग ग्रहण करेगी और उस समय इस महान सांस्कृतिक, परिवर्तन के जो हमारे जननायक होंगे वे पुरानी ढही हुई संस्कृति की, सामन्तवादी और पूँजीवादी कला-परम्पराओं की समस्त अच्छाइयों को नई साम्यवादी अर्थव्यवस्था में अक्षुण्ण रक्खेंगे। परन्तु इसके लिये स्पष्ट विचार और वीरता की आवश्यकता है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन इसी विचारों की स्पष्टता, वीरता और आत्मत्याग का स्पष्टीकरण है। प्रगतिवादी साहित्य का निर्माण मानव कल्याण के सब से बड़े उद्देश्य को लेकर होता है। उसकी वही उपयोगिता है जो मानव के फेफड़ों के लिये आक्सीजन की है। समाज के पूरे शरीर पर उसकी दृष्टि रहती है परन्तु समाज के सब से बड़े वर्ग और जनता की सब से क्रान्तिकारी श्रेणी की ओर वह विशेष क्रियाशील रहता है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन में दूसरी सब से महत्व की बात उसका फैशिज्म-विरोध है। जैसा राजनीति के पाठक जानते हैं मार्क्सवादी की श्रेणी-संघर्ष की मान्यता एक महान् और सम्मिलित मानवता की योजना को लेकर है। और यही वह प्रमुख आदर्श है जिसका विरोध

फैशिज्म विशेषरूप से करता है। प्रत्येक फैसिस्ट दार्शनिक और विचारक फैसिस्ट राजनीतिज्ञ के स्वर में स्वर मिलाकर यही कहता है कि जाति या राष्ट्र के आगे और कोई आदर्श नहीं है। उनका चरम विश्वचित्र है—लड़ती हुई भिन्न भिन्न जातियों या राष्ट्रों का अन्तहीन संघर्ष। इस अनन्त-युद्धपूर्ण भविष्य को संभव बनाने के लिये ही फैसिस्ट दार्शनिक और विचारक किताबें लिख लिखकर और अपने से पूर्व के विचारकों की पोथियों को जला जलाकर प्रत्येक ऐसे सिद्धान्त, योजना और आदर्श का विरोध करते हैं जो एक सम्मिलित मानवीय संस्था या साम्यवादी आदर्शों पर निर्णीत अखंड मानवीय विश्व-बन्धुत्व की भावना का समर्थन करता है—उसके लिये लड़ता और बलिदान करता है। साथ ही यह सोचना कि फैशिज्म केवल साम्यवाद, वर्गवाद, मार्क्सवाद या समाजवाद की मानवीय योजनाओं का ही विरोध करता है उसके दायरे और प्रभाव को कम समझना है। उसी प्रकार यह सोचना कि फैशिज्म मानवतावाद और उदार अन्तर्राष्ट्रीयता का ही विरोधी है उसकी घातक विचार प्रणाली को अपेक्षाकृत सीमित कर देना है। फैशिज्म तो प्रत्येक महान धर्म -हिन्दू, बौद्ध और ईसाई संस्कृति के उस मूलगत सिद्धान्त को टुकड़े टुकड़े कर डालती है जो अखण्ड-मानवता के स्वप्न को लेकर चलता है। इस स्वप्न की जमीन भले ही आचारिक और यूटोपियन हो परन्तु यह मानना पड़ेगा कि यही विश्व-ऐक्य और विश्वसंश्लेषण की भावना प्रत्येक धर्म और समाजदर्शन या आचार-दर्शन का प्राण है। इसलिये जब तक फैशिज्म की भावना, उसके प्रति मानवसमाज की स्वीकृति का प्रचार और उसे एक वैज्ञानिक, कल्याणकारी अर्थ देने की चेष्टायें चलेंगी तब तक राष्ट्र की भीतरी गुलामी और बाहरी संहारक युद्धों से रक्षा होना असंभव है। प्रत्येक धर्म में जो मानवमात्र के असीम मूल्य का निर्देश है— मानवमात्र

के सुख और समृद्धि का रेखा लेखा है—वह किसी भी प्रकार की गुलामी के प्रति मानवीय विद्रोह की अभिव्यक्ति है। यही वह क्रान्तिकारी मान्यता और मनोबल है जिसने मानवता से गुलामी के विरुद्ध जेहाद बुलवाया और उन पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्थाओं को छिन्न भिन्न कराया जो मनुष्य की गुलामी पर आधारित थीं। और आज फैशिज्म का आदर्श है मानव जाति को एक नई गुलामी में बाँधना जो व्यक्ति के समाज-द्रोही आधिपत्य (उत्पादन के साधनों पर) के लिये आवश्यक है। नाज़ी अर्थनीति या किसी भी फैशिस्ट शासनप्रणाली में श्रमजीवी वर्ग का अपने श्रम को अपनी इच्छानुसार और स्वतंत्रतापूर्वक बेचने का अधिकार छीन लिया जाता है। यहाँ तक कि मज़दूरों का हड़ताल करने का वैधानिक अधिकार भी जिसे उन्होंने असंख्य बलिदानों और प्राणदानों के बाद—न जाने कितने रक्तदान और कष्टसहन के उपरान्त उपलब्ध किया है उनसे छीन लिया जाता है—नहीं उनकी हड़तालों को उनका एक "क्रिमिनल" अपराध माना जाता है। यही नहीं यह तो आवश्यक श्रम या बेगार के आरम्भ का पहला रूप है और बीती हुई गुलामी को लौटा लाने का निश्चित और दृढ़ प्रयत्न है। नाज़ी विचारकों और फैशिज्म के समर्थक समाजशास्त्रियों ने तो यूरोप में मानवता की उस महान ईसाई भावना और व्यक्तिमात्र के असीम मूल्य और महत्व को भी नष्ट भ्रष्ट करना अपना उद्देश्य बना लिया है जिसने पुरानी गुलामी को यूरोप और अमेरिका में समाप्त कर दिया था। वे यह भी सोचते हैं कि उनके लिये नई गुलामी की योजना को स्थापित करने के लिये मानवीय स्वातन्त्र्य की इस गौरवशाली और सनातन परम्परा का आमूल उच्छेदन आवश्यक है। और इसीलिये अब प्रत्येक सच्चे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई को यह अनुभव होने लगा है कि मार्क्सवाद या वर्गवाद जो धर्म का नहीं वरन उन चर्चों या मठों का

विरोधी है जो समाज और जनता की सम्पत्ति को दबाये हैं और अपने इस अधिकार की रक्षा के लिये सतत यत्नशील हैं धर्म की मौलिक और अखण्ड मानवीय एकता पर कोई बड़ा आघात नहीं करता जैसा कि फासिस्टवाद करता है। कोई भी सच्चा और बड़ा धर्म मानवता के खण्ड खण्ड नहीं करना चाहता और मार्क्सवादी तो ऐसी महान मानवीय विश्वयोजना पर स्पष्टतः असंदिग्ध रूप से जोर देता है जो संसार के चरम सुख और समृद्धि के लिये आवश्यक है और जिस अखण्ड मानवीय योजना में व्यक्ति अपने को पूर्ण रूप से मिला देगा। वह समय अब आगया है जब एक ओर धर्म का नाम ले लेकर मार्क्सवाद के विरोधी उसे जनता की दृष्टि में हेय ठहराने का यत्न कर रहे हैं और दूसरी ओर कम से कम पश्चिम की जनता यह समझ रही है और स्वीकार भी कर रही है कि मार्क्सवाद और ईसाई धर्म का लक्ष्य एक ही है—एक ही विराट स्वप्न को लेकर दोनों चलते हैं – भले ही उनके विश्वासों की अभिव्यक्ति की भाषा या अन्य उपादान भिन्न-भिन्न हों। परन्तु एक बात यहाँ कहना जरूरी है। श्रेणी संघर्ष का मार्क्सवादी आग्रह जिन धर्म-प्राण उदाराशयों को चिन्तित और आशंकित कर देता है वे यह कैसे सुगमतापूर्वक भूल जाते हैं कि जनता का ६५ प्रतिशत भाग जो समाज का सारा कार्य करता है (अन्न-उत्पादन वस्त्र निर्माण इत्यादि) उन पाँच या दस प्रतिशत मुफ़्तखोर लोगों से शक्ति क्यों न छीन ले—क्यों न उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति की अभिवृद्धि के राष्ट्रविरोधी और समाजविरोधी मार्ग से हटाकर उस विराट सम्पत्ति और धन-संचय को समस्त जनता की सम्पत्ति बना दे—जो समाज के समस्त श्रमिकों के श्रमका शोषण करते हैं और केवल इसलिये मुफ़्तखोरी करके जीवित रहते हैं कि खानों, खेतों और जमीनके वे मालिक हैं। उन्हें देश की उत्पादिका शक्तियों और श्रम-साधनों पर हावी रहने

का क्या अधिकार है ? मानवता के उस विराट, युग युग से अनुमोदित और विश्व के समस्त धर्मों द्वारा निरूपित महान स्वप्न को चरितार्थ करने के लिये— उस अखंड मानवीय जीवन-योजना और समाज-नियोजना की उपलब्धि के लिये यह आवश्यक है। साथ ही मार्क्सवादी या प्रगतिवादी यह भी जानता और मानता है कि जनता का यह ६० प्रतिशत भाग केवल राजनैतिक संघर्ष के द्वारा ही विरोधियों से शक्ति छीन सकेगा और अपने हाथों में सुरक्षित रख सकेगा।

प्रगतिवादी का वर्ग-युद्ध का यह आदर्श सही है या गलत, अच्छा है या बुरा यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रगतिवादी की वर्ग-संघर्ष की मान्यता का उद्देश्य एक सम्मिलित और अखण्ड मानव योजना की प्राप्ति ही है। "दुनिया के मज़दूरो एक हो जाओ" इस महान वाक्य को जो लोग केवल एक अवसरवादी राजनैतिक नारा मानते है वे यह भूल जाते हैं कि विश्व-बंधुत्व, विश्व-शान्ति और विश्वकल्याण, संपूर्ण मानवता की अखण्ड जीवन-योजना और प्रगतिक्रम के लिये दुनिया के मेहनतकशों का—कमकरों का एक हो जाना आवश्यक है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन यदि अर्थ को प्रधानता देता है और रोटी की आवाज़ पर संसार के समस्त देशों को शोषित और अधभूखी अधनंगी जनता को—विश्व की सर्वहारा को एक झंडे के नीचे ले आना चाहता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह जीवन के असीम सौख्य और शक्ति साधनों में अर्थ को छोड़कर और किसी चीज़ का अस्तित्व नहीं मानता। इसके विपरीत वह तो मानता है कि आर्थिक दासता के दूर हुए बिना मानवजीवन सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर आगे बढ़ ही नहीं सकता। आर्थिक हीनता की भावना तब तक मानव हृदय को अशान्त और उत्पीड़ित करती रहेगी जब तक एक वर्गहीन राष्ट्रीय समाज और फलस्वरूप श्रेणीविहीन

अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना नहीं हो जाती। हम अपने साधारण दैनिक जीवन में पग पग पर देखते हैं कि आर्थिक असौख्य और दीनता के कारण ही न जाने कितने मनुष्य रूढ़ियों और प्रगतिविरोधी सामाजिक अवस्थाओं से विद्रोह नहीं कर सकते और यह घुटन, यह दमन, स्वास्थ्यकर सामाजिक प्रवृत्तियों का यह आत्मसंहार उनके समस्त जीवन को विकृत कर देता है। आर्थिक हीनता की यह नाशकारी भावना न जाने कितने क्रान्तिकारियों को (एक सीमा तक अग्रसर होने के बाद) पीछे हटने के लिये विवश कर देती है और वे किसी न किसी प्रकार रुपया संचित कर अपनी सामाजिक और आर्थिक दशा सुधारने पर उतर आते हैं। इसलिये मानव की पारस्परिक आर्थिक हीनता को मिटाने और उसके भीतर एक स्वस्थ्य सामाजिक अहम् को पैदा कर उसे राष्ट्र की सम्मिलित जीवनयोजना से मिलकर आगे बढ़ने की दीक्षा जो जीवनदर्शन देता है वही प्रगतिशील है और यह कहने में किसी भी ईमानदार व्यक्ति को हिचकिचाहट न होगी कि केवल मार्क्सवादी समाजदर्शन ही आज ऐसा कर रहा है। मानव हृदय से यह आर्थिक हीनता की भावना तब तक नहीं दूर हो सकती जब तक वर्तमान सामाजिक वैषम्य और समाज के धन पर कुछ 'चुने हुओं' का आधिपत्य नष्ट नहीं होता। फैशिज्म तो बलवान व्यक्ति द्वारा दुर्बल व्यक्ति के, बलवान वर्ग द्वारा दुर्बल और राजनैतिक चेतना में पिछड़े हुए वर्ग के और बलवान राष्ट्रों द्वारा दुर्बल राष्ट्रों के शोषण पर ही आधारित है। समस्त संसार में फैशिज्म का विरोध केवल थोड़े से बुद्धिजीवी, विचारक और आदर्शवादी स्वप्नशील भावुकजन ही नहीं कर रहे वरन उन करोड़ों श्रमिकों द्वारा भी उसके नाश के लिये संघर्ष किया जा रहा है जो फैशिज्म के अन्त में ही अपनी और अपनी संतति का त्राण देखते हैं। जब तक फैशिज्म का अन्त नहीं

होगा तब तक युद्ध का अन्त नहीं होगा और फैशिज़्म के नाश पर ही उस नई दुनिया की स्थापना होगी जिसमें मानव का पारस्परिक सम्बन्ध स्वामी और दास, मालिक और मज़दूर, ज़मीदार और किसान का न होकर समानता, साथीचारे और सामाजिक सन्तोष का होगा। धन का यह असम विभाजन जो आज थोड़े से पूँजीवादी धनिकों को अधिकाधिक धनी और सर्वहारा को अधिकाधिक ग़रीब बनाता जा रहा है तब तक नहीं दूर होगा जब तक उत्पादन के समस्त साधनों पर, देश की बिखरी हुई और केवल थोड़े से लोगों के हाथों में सिमटी हुई पूँजी पर, राष्ट्र का, देश का और समाज का सामूहिक अधिकार नहीं हो जाता। इस पूँजी पर सामूहिक आधिपत्य स्थापित होने के बाद फैशिज़्म का स्वतः ही नाश हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति जब आर्थिक हीनता से मुक्त हो जायगा तो स्वभावतः वह राजनैतिक और सामाजिक दासता के बन्धनों को तोड़ डालेगा। तब फैशिज़्म जो ऐसी मानवीय दासता का सब से जघन्य और कुत्सित रूप है अपनी मौत आप मर जायगी।

हाइने के शब्दों में प्रत्येक प्रगतिवादी साहित्यकार "soldier in the liberation war of humanity" या मानवता के महान स्वाधीनता संग्राम का सिपाही होता है। अन्य किसी प्रकार की मुक्ति का उसके निकट प्रश्न नहीं है। विरक्तिवाद या वैराग्यवाद की आत्मविनाशी मुक्ति भावना और परम्परा का उसके निकट स्थान नहीं है। प्रगतिवादी केवल प्रकृति के चातुर्य्य, कौशल और बाहुल्य पर विश्वास करता है। वह देवताओं की शक्ति पर विश्वास नहीं करता जो केवल बलवानों और धूर्तों को ही मुख्य सुविधायें देते हैं। मृत्यु जीवन का अन्त हो सकती है परन्तु उसका अन्त कहाँ और कैसे हो सकता है जो जीवित रहने की ठान चुका है और जो न केवल अपना और अपनी पीढ़ी का वरन् आने वाली पीढ़ियों और संतति

का मार्ग अपने बलिदानों और संघर्षों से निष्कंटक और बाधाहीन कर देना चाहता है। वह यह भी जानता है कि विश्व-विकास के युग में तो जनसाधारण के लिये यह संभव है कि वह अपना वैयक्तिक जीवन ही महत्वपूर्ण समझे—उन सिद्धान्तों और धारणाओं पर अधिक ध्यान न दे जिनके सहारे वह जीता है और राजनीति को वह व्यवसाइयों के हाथों में छोड़ दे। परन्तु आज वह युग नहीं। जन-सत्ता, स्वाधीनता, न्याय और विवेक कवि 'आडन' के शब्दों में आज गम्भीर खतरे में हैं और दुनिया के बहुत से हिस्सों में जिनमें हमारा देश भी शामिल है नष्ट हो चुके हैं। प्रगतिवादी का लक्ष्य है इन्हें फिर से जीवित कर के इन्हें आने वाली शताब्दियों में आने वाले अवरोधों से संघर्ष करने योग्य बना देना। इस लिये प्रगतिवादी जीवनदर्शन अन्य क्रियाहीन जीवनदर्शनों की भाँति केवल विश्वव्यवस्था को समझा कर ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता। वह उसे बदल देना भी चाहता है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन कर्म का जीवनदर्शन है और प्रगतिवादी साहित्य कर्म या संघर्ष का साहित्य है। कला जो कि वर्गयुद्ध का एक प्रबल और प्रमुख अस्त्र है जनता द्वारा उसके एक शस्त्र के रूप में ही विकसित होती है। और हाइने का यह बौद्धिक सिपाही साहित्य और कला को जीवन पर अधिकार करने का—उसे रोग शोक, दुःख पीड़ा, शोषण और सामाजिक हनन से मुक्त करने और स्वस्थ्य सामाजिक प्रवृत्तियों और प्रगति का पोषक बनाने का एक साधन मानता है। इस-लिये प्रगतिवादी जीवनदर्शन अधिक से अधिक मानवतावादी और समाजवादी होता है और व्यक्ति के क्षुद्र विद्रोहों और मुक्ति-योजनाओं के लिये वहाँ स्थान नहीं है। जैसा स्टेलिन ने लिखा है—People want literature to help them to root out the last remnant of the mentality of propertied

individuals, जो भी जीवनदर्शन या साहित्यदर्शन वैयक्तिक पूँजी को नष्ट करने और वैयक्तिक सम्पत्तिवाद का नाश करने की आवाज़ नहीं उठाता है वह और कुछ भले ही हो प्रगतिशील नहीं है क्योंकि प्रगति तो मानवता के सुख और आर्थिक सन्तोष के मार्ग पर अग्रसर होने में है।

प्रगतिवादी जीवनदर्शन के कई प्रमुख अंगों पर विचार हो चुका है। उसका फैशिज़्म-विरोध, पूँजीवाद का मूलोच्छेदन और उसके स्थान पर समाजवादी शासन-व्यवस्था और अर्थ-प्रणाली की स्थापना, व्यक्तिवादी मुक्ति के अर्थ में जीवन को न समझ कर उसे महान सामाजिक क्रियाओं और सवर्गों का एक वैज्ञानिक तरीका मानना, धर्म और दर्शन को, साहित्य और कलाओं को मानवजीवन पर कब्ज़ा करने और उसे स्वतंत्र, सुखी और समान बनाने का सब से प्रबल और अचूक अस्त्र मानना, वैराग्यवाद और व्यक्तिवाद को घातक चिन्तन-प्रणालियाँ मानते हुए एक ठोस वैज्ञानिक और कठोर समाजदर्शन और जीवनविज्ञान की योजना पर उसका अटूट विश्वास, यह सब ऊपर के सीमित स्थान में बड़े अनगढ़ ढंग पर वर्णित है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन एक सर्वतोमुखी सामाजिक क्रान्ति का ही पर्याय है जिसके बाद फिर एक बड़े समय के लिये शान्ति, सुख और समृद्धि सुरक्षित हो जायगी। यहाँ थोड़ा सा विचार इस जीवनदर्शन के नैतिक मूलाधार और चेतनाधार पर भी करना होगा। नर और नारी के सेक्स सम्बन्धों को लेकर एक ओर हमारे कुछ साहित्य-कारों ने जैसी आसक्ति लैंगिक योजनाओं के प्रति दिखाई है और जीवन को सेक्स के आकर्षण की जैसी लुभावनी परिधि में बाँध दिया है वह तो आपत्तिजनक है ही परन्तु उससे भी ज्यादा उल्लेखनीय है उन आलोचकों और पेशेवर प्रगति- विरोधियों की कठमुल्लापन

से भरी हुई आक्षेप और गालियों की बौछार, जो प्रगतिवाद को अश्लीलता और नंगेपन का ही पर्याय मानते हैं। लेकिन साहित्य में सेक्स सम्बन्धों की अभिव्यक्ति कितनी, कैसे और कहाँ होनी चाहिये यह एक अनर्गल प्रश्न साहित्यकारों के सामने उन बाँझ आलोचकों ने खड़ा कर रक्खा है जो सृजन के नाम पर कोरे हैं और केवल आचारों की निष्प्राण रेखायें खींचते रहना ही जिनका पेशा बन गया है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन इस मामले में भी बिलकुल स्पष्ट, कठोर और बेलौस है। एक वैज्ञानिक क्रान्तिवादी सेक्स-सम्बन्धों को अधिक से अधिक स्वस्थ्य और अविकृत जीवनयापन का एक आवश्यक और अनिवार्य अंश मान सकता है। जिस प्रकार उसे जीवन की अन्य आवश्यकतायें पीड़ित करती हैं उसी प्रकार सेक्स की प्रेरणायें भी होती हैं। परन्तु शारीरिक सुख और सन्तोष के अतिरिक्त नारी का एक मानवीय और उससे भी आगे बढ़ कर अतिमानवीय मूल्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही ममता, त्याग, स्नेह और स्फूर्ति की इस शक्ति को कवि के शब्दों में

> "कृति के प्रथम दिवस में जब नर ने नारी को पहचाना
> तब मानव ने जग में अपने से भी कुछ पावन माना

साहित्य और जीवन में कहीं भी केवल भोग-विलास की गुड़िया बनाकर नहीं रक्खा जा सकता। प्रगतिवाद में तो नारी और नर की पूरी समानता है और किसी भी दशा में प्रगतिवादी जीवनदर्शन नर के द्वारा नारी का किसी भी प्रकार का शोषण नहीं सहन कर सकता। परन्तु नैतिक मूल्यों का उसमें उसी सीमा तक स्थान है जहाँ तक वे सामाजिक स्वास्थ्य और सौख्य के साथ साथ चलते हैं। आधुनिक समाज-व्यवस्था में पति के मर जाने के बाद जिस प्रकार 'टेबू' के बल पर नारी को एक बुझे हुए दीपक की उपासना करते करते अपना

जीवन समाप्त कर देने के लिये विवश किया जाता है और उन्हें जबर्दस्ती बाँझ बनाकर निष्प्रयोजन और निरुद्देश्य छोड़ दिया जाता है उसे कोई भी वैज्ञानिक समाजव्यवस्था और आचारशास्त्र स्वीकार न करेगा। साथ ही दूसरी ओर प्रगतिवादी जीवनदर्शन में मुक्त यौन-सम्बन्धों के लिये और अमेरिकन और फ्रेन्च यौनक्रीड़ाओं के लिये भी स्थान नहीं है। जिस जीवनदर्शन में पग पग पर क्रान्ति, कष्टसहन, कारावास, देश-निकाला, कालकोठरी, कुत्तों की तरह मारे मारे घूमना, एक लक्ष्य, एक स्वप्न लेकर उसी का अस्तित्व-विन्यास करते करते अपना तन मन धन तक उत्सर्ग कर देना, मानव सम्बन्धों को, समाज-सूत्रों को एक नयी भूमि पर स्थापित करना और उसी प्रयत्न में आजीवन अडिग, अकंपित, अविचलित, असंदिग्ध पगों से आगे बढ़ते जाना—यही सब सिखाया और बताया जाता है वहाँ जीवन में यौन सम्बन्धों का स्थान और काल ही क्या होगा। यौन-विकृतियाँ और अत्यधिक आसक्तियाँ तो उस समाज में ही अधिक रहती हैं जहाँ श्रमशोषक वर्ग मुफ्तखोरी में समय काटा करता है और आत्मिक बल से रहित अपने पापों की छाया में भीतर ही भीतर आशंकित और अपनी आत्मिक अशान्ति और मनोविप्लव से पीड़ित, शराब और आथलों की शरण ढूँढ़ा करता है। जब सबको काम करना होगा और यह मुफ्तखोर वर्ग ही समाज से सदा के लिये विदा हो जायगा तब एक ऐसे नैतिक धरातल का स्वाभाविक रूप में स्वतः निर्माण होगा जिस पर खड़े होकर नर और नारी यौन सम्बन्धों से अधिक मानवीय और साँस्कृतिक सम्बन्धों में बँधे होंगे। उस समय उनके भीतर समाज निर्माण की वह प्रचंड प्रेरणा होगी जो जीवन को इन शारीरिक परिपूर्तियों से ऊपर उठाकर मानवता के अधिक से अधिक सामूहिक हित की ओर प्रवृत्त करती है।

प्रगतिवाद एक आदर्श और एक प्रणाली दोनों है। उसका आदर्श राजनीति और समाजशास्त्र में एक वर्गहीन समाज की स्थापना (उत्पादन के साधनों और धन के वितरण पर सामूहिक अधिकार के फलस्वरूप) को लेकर चलता है और उसकी माँग साहित्य में भी जीवन को इन शक्तियों और प्रवृत्तियों की क्रान्तिकारी अभिव्यक्ति की होती है। जहाँ तक प्रणाली का सम्बन्ध है प्रगतिवाद अपने आदर्श को एक महान सामाजिक क्रान्ति द्वारा उपलब्ध करने में विश्वास करता है जिसमें जनता की पूर्ण और अखण्ड अधिकार-सत्ता एक बड़ा और कारगर परिवर्तन कर देगी। साहित्य में यह प्रणाली समाज की उन उभरती हुई विकास की शक्तियों के आह्वान और उनके पुन्जीभूत होने में विश्वास करती है जो समाज को आगे चलकर आमूल बदल देंगी और यही शोषक और हिंसक समाज एक ऐसे स्वस्थ्य और साम्यवादी समाज में परिवर्तित हो जायगा जिसमें सबको कुछ निश्चित जीवन और सुख के साधन मिलेंगे और सब को बराबर सुविधायें और अवसर प्राप्त होंगे। साहित्य में यह जीवनदर्शन समाज शास्त्र के रूप में स्पष्ट भागों में बाँटा जा सकता है। सब से पहले वह इतिहासदर्शन है और सामाजिक विकास की एक नई परिभाषा और गठन देता है। यहीं मार्क्स का वह संसारप्रसिद्ध सिद्धान्त निकलता है जिसने इतिहास के अपने से पूर्व के समस्त दर्शन में क्रान्ति कर दी थी। वर्ग युद्ध ही सामाजिक परिवर्तन की प्राप्ति का सब से महत्वपूर्ण-तत्व है। साथ ही साथ अपने लक्ष्य की स्थापना और अपने महान संकल्पों को सत्य का सार्वभौमिक रूप देने के लिये प्रगतिवाद अपने संघर्ष के तरीकों और युद्ध के मोर्चों में भी परिवर्तन करता रहता है। नवीन अर्थशास्त्र के रूप में वह पुराने अर्थशास्त्रों के आधार पर अपनी धारणाओं को ऐसे क्रमों के रूप में रूपान्तरित कर

लेता है जो उसके अन्तर्गत कर्म-दर्शन और कर्म-साधना को उत्तेजित कर सकें। साथ ही देश प्रेम की सच्ची और व्यापक भावना को उचित महत्व देते हुये भी वह मानता है कि किसान और मज़दूर का असली देश तो उसका वर्ग है और पूँजीवाद जो देश प्रेम के नाम पर मज़दूरों को बरगलाता रहता है देश के प्रेम का प्रश्न खड़ा करके अपनी ही जड़ें मज़बूत करता है। अपने देश के बाहर चला गया उनकी श्रेणी का सिलसिला ही मज़दूरों का सब से बड़ा स्वार्थ है।

साहित्य का जीवनदर्शन राजनीति और सामाजिक आन्दोलनों से दूर रहता है और इन क्षणिक हलचलों से परे कुछ स्थाई चिन्तन और गंभीर मूल्यों का निरूपण वह करता रहता है ऐसा जो लोग कहते हैं वे ठीक कहते हैं। परन्तु इन स्थायी और चिरन्तन मूल्यों का अस्तित्व और इतिहास क्या है? मानवजाति की बहुमुखी सामाजिक प्रगति से बढ़कर स्थाई, चिरन्तन और गंभीर वस्तु क्या हो सकती है। एक जीर्ण दमनकारी सामाजिक व्यवस्था का विनाश करके प्रगतिवाद जिस नई सामाजिक व्यवस्था की रचना करता है वह आज भी दुनिया के यथार्थों से अधिक मेल खाती है—क्या इसीलिये उसकी समस्त कला क्षणिक है और जो टूट फूट कर, छिन्न भिन्न होकर ढह रही है उसकी साहित्यचर्चा चिरन्तन है! साहित्य से राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजविज्ञान को हम निकाल ही कैसे सकते हैं जबकि व्यापक सर्वहारा वर्ग के विचार समस्त संस्कृति को ही अपने में समेट लेते हैं। इसलिये प्रगतिवादी जीवनदर्शन अर्थशास्त्र, राजनीति, सामाजिक और वैयक्तिक सम्बन्ध, दर्शन, विज्ञान, कला और साहित्य सब में एक क्रान्तिकारी और नवीन प्रेरणा पैदा कर रहा है और आज जो साहित्यकार कवि, या कलाकार अपने को एक उदार निष्पक्षता और उदारतर दृष्टि-कोण का हिमायती कहकर पार्टियों, नारों और अन्य ऐसी ही

जीवन की ओर ले जाने वाली योजनाओं से अपने को ऊपर समझते हैं वे सीधे प्रतिक्रिया के शिविर में जा पहुँचते हैं। आज यह स्पष्ट है कि जो कमकरों की पार्टी का, उनकी आकांक्षाओं का, उनके साहित्य का, उनके समाज-दर्शन और भविष्य-निर्माण का साथ नहीं देता वह पूँजीपतियों की पार्टी का आदमी है और निष्पक्षता के नाम पर वह जीवन और साहित्य की सजग शक्तियों को बहका रहा है। प्रगतिवादी जीवनदर्शन जो सर्वहारा वर्ग के राजनैतिक और साँस्कृतिक उत्थान का आग्रहकर्ता है और संसार के समस्त कमकरों के बन्धनों को सदैव के लिये तोड़ कर उन्हें स्वतंत्र दुनिया का प्राणी बनाने का दृढ़ संकल्प करके उठते बैठते चलते फिरते सस्ते आलोचकों के सस्ते आक्षेपों को ठुकराता चलता है उन सभी शक्तियों का नाश करेगा जो अपने दलगतस्वार्थों के भिन्न होने पर भी पूँजीपतियों के सामान्य स्वार्थों के लिये, व्यक्तिगत पूँजी, सम्पत्ति और मज़दूरीप्रथा की रक्षा के लिये लड़ती हैं। पूँजीवाद और फैशिज्म द्वारा चलाई गई इस व्यवस्थित लूट के विरुद्ध—मानव जाति के इतिहास के सब से शर्मनाक पहलू के खिलाफ़ उठते हुए विद्रोह को, ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था के भीतर से एक महान साँस्कृतिक क्रान्ति की लाल आकाँक्षा को सब से पहले प्रगतिवादी जीवनदर्शन ने ही अभिव्यक्ति दी है और बराबर दे रहा है।

नई हिन्दी कविता का प्रगतिवादी पक्ष

कविता के सत्य पर विचार करते हुए प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक और तरुण शहीद काडवेल ने लिखा है :—Not poetry's abstract statement—its content of facts, but its dynamic role is society...its content of coll ctive emotion is therefore poetry's truth (Illusion and Reality). कविता का यह नया सत्य 'सामूहिक रस' क्या है और कहाँ से आता है—कैसे काव्य के अन्य आवश्यक उपादानों के साथ साथ वह चलता है और कवि की व्यक्तिवादी प्रतीति को वह कहाँ तक स्थान देता है—किस सीमा के बाद वह सामाजिक क्रिया या समाज के आर्थिक कर्म की अभिव्यक्ति करता है यह प्रस्तुत लेख में देखने की चेष्टा की जायगी। इस सामूहिक रस का उदगम श्रेणी-संघर्ष की उस ऐतिहासिक परम्परा के साथ सम्बद्ध है जो एक वैज्ञानिक मार्क्सवादी की धारणा के अनुसार समस्त इतिहास और मानव के समस्त सांस्कृतिक प्रयत्नों के बीच एक सूत्र संचालित करती है और यही वह काव्य का व्यापक और महान सत्य है जिसके अभाव में प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक कविता को अनिर्दिष्ट काव्य-प्रवृत्तियों का युग कहते है और क्षुब्ध होकर यहाँ तक कह डालते हैं : "नई शैलियाँ और नये प्रयोग निकल रहे हैं पर नये प्राणों का निर्माण नहीं हुआ।" मैं सोचता हूँ हिन्दी कविता में जिस नये प्राण के प्रादुर्भाव के लिये वाजपेयीजी चिन्तित है वह यही सामूहिक रस है और श्रेणी संघर्ष के ऐतिहासिक बोध का काव्य के माध्यम से

जनजीवन पर पड़ने वाला घात प्रतिघात है। पर मुझे यह देख कर कम आश्चर्य नहीं हुआ कि पल्लव, ज्योत्स्ना या गुञ्जन की कृत्तिमता और बुर्जुआ मैनरिज्म' से पूर्ण रचनाओं को वाजपेयीजी रोमान्सवाद की प्रकृत और वास्तविक प्रेरणा से प्रसूत मानते हैं और युगवाणी की 'सब से बड़े वर्ग के सब से बड़े हित' की उदात्त भावना से प्रेरित कविताओं की आचार्य शुक्लजी द्वारा की गई प्रशंसा पर असन्तुष्ट होकर कहते हैं—"इस युग की काव्य-सृष्टि के साथ किसी अशुभ ग्रह का योग अवश्य हो गया है।" मैं भी मानता हूँ कि वह अशुभ ग्रह उपस्थित है और वह है व्यक्ति, वर्ग, श्रेणी का पारस्परिक शोषण और इन सब के ऊपर अँगरेज़ी साम्राज्यवाद के द्वारा शताब्दियों से हो रहे इस महान देश का शोषण। जब तक यह अशुभ ग्रह टूट टूट कर बिखर नहीं जाता तब तक हिन्दी का कोई कवि लेखक या आलोचक समाज की एक स्वथ्य शक्ति के रूप में पनप नहीं सकता और वह अपने वर्ग-संस्कारों का गुलाम बना रहेगा। यही नहीं शुक्लजी के और अपने दृष्टिकोण और आलोचना के सिद्धान्तों का अन्तर बताते हुए वाजपेयी-जी कहते हैं "शुक्लजी का ध्यान सदैव काव्य के उदात्त स्वरूप और उसमें निहित लोकादर्शवाद की ओर रहा है। काव्य के उदात्त स्वरूप को उन्होंने प्रबन्ध काव्य में सीमित कर दिया और लोकादर्शवाद को एक सामान्य नैतिक आधार देकर बहुत कुछ रूढ़ बना दिया। जीवन का वैचित्र्य और बहुरूपता, लोकादर्शों की ऐतिहासिक प्रगति और परिवर्तन तथा काव्य स्वरूप का नव नव विकास और विन्यास उनका ध्यान अधिक आकृष्ट न कर सके।" वाजपेयीजी की उपरोक्त बात से सहमत होते हुए भी मुझे यहाँ पर यह कहना है कि आचार्य शुक्लजी ने सामंजस्यवाद की बराबर हिमायत करते रहने पर भी बहुत सी बातों में प्रगति की शक्तियों का साथ दिया है। काव्य के विषय में

उनकी भौतिकतावादी मान्यता—काव्य का सम्बन्ध इस जगत और जीवन के अतिरिक्त किसी भी अन्य क्षेत्र से न जोड़ने पर उनका आग्रह, असीम, अव्यक्त, अनन्त आदि की लालसावाली कविताओं और काव्यदर्शनों को उनका साम्प्रदायिक रहस्यवाद कहना, निवृत्ति से कहीं अधिक प्रवृत्ति पर उनका जोर आदि उनकी बातें जीवन के प्रति एक बड़े जिम्मेदार दृष्टिकोण की परिचायक हैं। यही नहीं छायावाद के भीतर पग पग पर बोलते हुए 'कला के लिये कला' के सिद्धान्त का सब से पहले शुक्लजी ने खंडन किया और काव्य-कला को छायावादी पलायनवाद के दायरे से निकाल कर सब से पहले उसे लोकधर्म को स्थापना और लोककल्याण का माध्यम घोषित किया। काव्य और लोकजीवन के घनिष्ठ ही नहीं वरन अभिन्न सम्बन्ध की गहरी माँग शुक्लजी ने साहित्य की शक्तियों मे सर्वप्रथम की और रसवाद की एक स्वस्थ, सबल और सामाजिक नैष्ठिकता से सशक्त रूप रेखा उन्होंने खींची। साथ ही मैं वाजपेयीजी की इस बात से पूर्ण सहमत हूँ कि शुक्लजी इस लोकादर्शवाद का एक ठुका पिटा और स्थूल रूप ही देख सके। मानवजीवन और समाजविन्यास की आर्थिक और द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों, लोकदर्श के महान क्रान्तिकारी 'सब के सुख और सन्तोष' के साम्यवादी सिद्धान्त को वे कभी नहीं समझ सके। साहित्य की जिस मुक्ति की आवाज़ उन्होंने बराबर अपनी चिन्ताधारा में उठाई और छायावादी विकृतियों को जिस कठोरता से उन्होंने प्रकट किया, वह महान उद्देश्य, वह साहित्य के भीतर से सामूहिक हित की उपलब्धि, बिना मार्क्सवाद उत्पत्तिवाद और आर्थिक साधारणीकरण के नहीं हो सकती। काडवेल के collective emotion को ही शुक्लजी साधारणीकरण का नाम देते थे इसमें मुझे सन्देह नहीं है। परन्तु इस रसोद्बोधन की वैज्ञानिक जीवनभूमि की नियोजना शुक्लजी

नहीं कर पाये। एक महान प्रवर्तक और आचार्य होते हुए—एक स्वतंत्र विचारक और उच्चकोटि के साहित्य मीमाँसक होते हुए भी शुक्लजी युग के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक क्रान्तिवाद पर आधारित भौतिक साधारणीकरण की लोकानुभूति को नहीं समझा सके। लोकआदर्श की पग पग पर दुहाई देते और काव्य की समस्त प्रवृत्तियों को इसी आलोचनाभूमि पर कसते रहने पर भी लोकआदर्श और लोकधर्म की प्रगति और उसकी प्रेरक शक्तियों की गहराई और बल को नहीं पकड़ पाये। इसका कारण स्पष्ट है। शुक्लजी विशुद्ध साहित्यिक थे। साहित्यशास्त्र के पूर्ण पंडित होते हुए भी इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और विश्वक्रान्तिनीति की जानकारी उनकी गहरी नहीं थी। और न उन्होंने कहीं ऐसा दावा ही किया है। स्पष्ट है ऐसा समीक्षक या साहित्यशास्त्री कभी भी जीवन और जगत की प्रगति की सर्वाँङ्गी विवेचना नहीं कर सकेगा। परन्तु साहित्य के लिये एक जीवित विकासोन्मुख परम्परा उन्होंने अवश्य स्थापित की। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व में मानने वाले और व्यक्ति की अपेक्षा कहीं भी और कभी भी समष्टि को अधिक महत्व देने वाले इस आचार्य ने सदैव गृह या कुलधर्म से समाजधर्म, समाजधर्म से लोकधर्म और लोकधर्म से विश्वधर्म में ही प्रगति की परिणति देखी है। हाँ यह मार्क्सवाद की निश्चित और वैज्ञानिक विचारभूमि पर नहीं है। एक स्वप्नशीलता से अधिक से व्यवस्थायें नहीं बन पाईं और कारण यह था कि हमारे आचार्य समय की उन शक्तियों को धुँधले रूप में ही पहचान पाये जो भविष्य का निर्माण करती हैं। व्यक्तिवाद और तज्जनित विशृँखला के इस युग में उन्होंने अस्तंगत सामाजिक और समष्टिगत आदर्शों को साहित्य में पुनर्जीवित किया और आज वाजपेयीजी और डा० राम-

विलास, हिन्दी के ये दोनों प्रमुख आलोचक यह मानते हैं कि आगे की आलोचना का निर्माण इन्हीं समष्टिगत आदर्शों पर श्रेयस्कर होगा।" शुक्लजी ने प्रगति के इन तत्वों को साहित्य की भूमि पर फिर से यथास्थान लाकर बिठाया और एक कठोर बौद्धिक प्रयत्न-वाद के द्वारा उन्होंने सामाजिक सत्य की लोकसत्य और विश्वबोध में परिणति देखी। मुझे कहने दिया जाय कि यह मामूली उपलब्धि नहीं है। व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रय को न भूलते हुए उन्होंने व्यक्ति को समाजनिर्माण के लिये माना और व्यक्तिगत साधना को समाजनीति के आगे कभी स्वीकार नहीं किया। आधुनिक समाजवादी विचारधारा के सब से मार्मिक (vital) सत्य को उन्होंने एक बार पकड़ा और आजीवन उसे लिये हुए चले। परन्तु यह सब होते हुए भी Philosophers have only interpreted the world differently: the point is however to change it ऐन्जिल्स का यह कथन विश्व के असंख्य निष्क्रिय विचारकों और तत्वमीमांसकों की भाँति उनपर भी लागू होता है। सामाजिक कर्म और वह भी एक क्रान्ति की योजना को लेकर—इसकी प्रेरणा कहीं भी शुक्लजी ने नहीं दी। स्पेन का रक्तरंजित गृहयुद्ध उनकी आँखों के सामने बीता। फिर भी वे जीवन और मृत्यु, प्रगति और ह्रास के उस महान संघर्ष को उसके उचित कोण में न समझ पाये। एक कोरा हेतुवाद और वह भी पौराणिक किस्म का—यह शुक्लजी बराबर लिये रहे और अपने स्थितिधर्म के समर्थन के अतिरिक्त प्रगतिचेतना का अन्य कोई आधार उनके पास नहीं था। साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है—दूसरे शब्दों में वह सामाजिक विकास का दर्पण है और प्रति शताब्दी में बदलते हुए विचारों और सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का—श्रेणीसंघर्ष का

सजीव चित्र है। तभी इतिहास—चाहे वह साहित्य का हो चाहे राज्य-परिवर्तनों का—भविष्य के लिये एक कर्म-रेखा बना सकता है। और उपयोगिता का धरातल तभी ऊँचा होता है। परन्तु शुक्लजी अपने दृष्टिकोण में वस्तुवादी या objective होते हुए भी जीवन की समस्त अभिव्यक्तियों में प्रकट उसकी मौलिक प्रसरणशीलता को नहीं स्पष्ट कर पाये। शुक्लजी पर वाजपेयीजी के जो आक्षेप हैं उनसे मेरा आक्षेप बिलकुल भिन्न कोटि का है। शुक्लजी कहीं भी साहित्य के प्रमुख आधार (base) उस आर्थिक ढाँचे में पनपते हुए उस सतत परिवर्तन की शक्तियों का स्पष्टीकरण साहित्य और इतिहास के माध्यम से नहीं कर पाये जिसके द्वारा साँस्कृतिक स्वरूपों की समस्त व्यवहृत योजनायें निर्मित होती हैं। यह आर्थिक ढाँचा प्रत्येक युग में बदलता रहा है और आज भी वह बदलेगा—भले ही समाज के कुछ वर्ग इस परिवर्तन को रोकने में अपनी प्रतिवादी शक्तियाँ लगा दें। साहित्य और संस्कृति के इस महान संक्रमण को शुक्लजी ने जैसे कोई महत्व ही नहीं दिया।

काव्य के चरम सत्य collective emotion की चर्चा करते करते अनायास हिन्दी के महान आचार्य शुक्लजी की चर्चा आगई। परन्तु इसका एक प्रसंग है। नई हिन्दी कविता के इस प्रगतिवादी पक्ष का आधार शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित लोक कल्याण और सामाजिक उत्कर्ष की व्यापक भावना पर ही होगा। साथ ही शुक्लजी जो अपनी विचार-भूमि में आर्थिक और अन्य सजीव परिवर्तन-तत्वों का समावेश नहीं कर पाये इससे हिन्दी कविता में इन तत्वों और शक्ति-स्रोतों के प्रवेश में कोई कठिनाई नहीं पड़ी यह भी दिखाना होगा। फैशिज्म के नग्नतम रूप को अपने जीवनकाल में देख कर और संभवतः मन ही मन उससे नफ़रत रखते हुए भी विश्वक्रान्ति में एक अडिग विश्वास और समाज

को वर्गहीन बना कर साहित्य को एक नई जीवनभूमि पर ले जाने की प्रबल पुकार शुक्लजी के साहित्य से नहीं उठती। नवीन हिन्दी कविता के प्रगतिवादी पक्ष का सिंहावलोकन करने के पूर्व आलोचना की उन शक्तियों की चर्चा यदि प्रसंगवश आ जाय जिन्होंने हिन्दी कविता को उत्साह या अनुत्साह प्रदान किया है—काव्यालोचन की एक स्वस्थ्य, संतुलित, वैज्ञानिक और प्रेरक रेखा बनाई है और अपने साहित्यिक निर्णयों से कवि, लेखक, श्रोता और पाठक सभी को प्रभावित किया है—तो यह क्षम्य होगा। दूसरी ओर हिन्दी के प्रभावशाली और तत्वनिष्ट आलोचक पं० नन्ददुलारे वाजपेयी प्रगतिशील कविता के लिये लिखते हैं—"इसके लिये इतना ही आवश्यक नहीं कि छायावाद की निराकारता के स्थान पर साकारता की अभिवृद्धि हो, वैयक्तिक भावुकता के स्थान पर निस्संग वैज्ञानिकता का भी आगमन होना चाहिये। चित्रणों में अधिकाधिक वस्तुमत्ता का सौन्दर्य आना चाहिये और युग और जीवन की प्राणमयी धाराओं का यथार्थ संचय होना चाहिये। जहाँ जहाँ जीवन की गतियाँ अवरुद्ध हैं वहाँ वहाँ कवि की संवेदना सब से पहले पहुँचनी चाहिये। युग की वास्तविकताओं को खुले दिल और खुली आँखों न देखकर उन्हें अभिशाप मानने और उनसे दूर भागने की चेष्टा जितनी प्रतिगामिनी है इतना ही प्रतिगामी है नकली और ह्रासोन्मुखी सामाजिक प्रवृत्तियों को नैतिकता और वास्तविकता का जामा पहनाना।" वाजपेयीजी के उपरोक्त विचारों से कौन प्रगतिशील कवि या काव्यालोचक सहमत न होगा। शुक्लजी की लोक कल्याण और लोक हित वाली परम्परा से स्पष्ट सहमत न होते हुए भी वाजपेयीजी की मान्यता उसके विरुद्ध नहीं जाती। शिवदानसिंह की तरह छायावाद की समस्त कविता को पूँजीवाद की कविता न कहते हुए भी वाजपेयीजी प्रगति की शक्तियों को ठीक ठीक

समझने और समझाने में समर्थ रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"महान कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा कदा श्लीलता अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो—और क्रान्तिकाल में ऐसा हो भी जाता है—पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा और मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।" नई हिन्दी कविता के प्रगतिवादी पक्ष के लिये हिन्दी के मान्य आलोचकों के ये स्पष्ट निर्देश बड़े ही सहायक रहे हैं। प्रमुख प्रगतिशील आलोचक शिवदान सिंह ने छायावाद की समस्त कविता को पूँजीवाद की कविता साबित करते हुए लिखा है—"कविता का मूल स्रोत है अनुभव—सामाजिक अनुभव, उसका मूल कर्म है इस अनुभव की कल्पनात्मक, भावपूर्ण अभिव्यंजना कर मानव के भाव जगत की परिधि को विस्तृत करना, मनुष्य के उन्नतिशील श्रम को मधुर बनाने के लिये श्रम के प्रति अनुराग वृत्ति उत्पन्न करना। इसलिये अनुभव, अनुभव और ज्यादा अनुभव ही आधुनिक कवि को प्रगतिशील शक्तियों का गायक और उत्प्रेरक बना सकता है।" एक जगह और वे लिखते हैं—"प्रगतिशील काव्य-शैली छायावादी शैली तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकती, क्योंकि आधुनिक जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता के अनुभव, अपने विनाश से बचने के लिये मरणोन्मुख साम्राज्यवाद-पूँजीवाद की अन्तिम रण-चेष्टा की विकरालता, क्रान्ति की शक्तियों की कठिनाइयाँ, उनकी शक्ति संचय एवं ऐक्य स्थापन की अनवरत चेष्टा, उनके विरोधियों की हिंसा, क्रूरता और बर्बरता; और नये समाज की प्रसव वेदना के अनुभव की भावपूर्ण, कल्पनात्मक कलापूर्ण अभिव्यंजना छायावाद की आदर्श-वादी शैली द्वारा नहीं की जा सकती। वह इस कठोर अनुभूति का भार नहीं उठा सकती। प्रतीकों का प्रयोग वास्तविकता का सर्वाङ्गपूर्ण

चित्रण नहीं कर सकता। इसलिये पन्त की कविता में एक ओर ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता है—वह है आधुनिक वास्तविकता के अनुकूल ही एक नयी यथार्थवादी शैली का विकास। दूसरी ओर डाक्टर रामविलास शर्मा ने तो स्पष्ट घोषित कर दिया है—"हिन्दी लेखक और कवि की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो उसे हठात् पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोधी बना देती हैं। जो पूँजीवाद या साम्राज्यवाद की खुशामद करे—उसे स्थाई बनाने में मदद दे, प्रगति के मार्ग में जो काँटे बिछाये वह देश का शत्रु है ....फिर भी ये सब मिल कर संगठित जनशक्ति का मुक़ाबला नहीं कर सकते। यही विश्वास जीवन संघर्ष में हमें बल देता है। यही हमारी शक्ति है। यही हमारा अहंकार है। जनहित हमारा आदर्श है। जनता का संगठन हमारा साधन है। और वह कौन सा हिमालय है जिसे संगठित जनशक्ति अपने मार्ग से दूर न कर सके।"

ऊपर हिन्दी के प्रमुख आलोचकों के उद्धरण देने का एक उद्देश्य है। कविता की सामाजिक उपयोगिता और सामाजिक जीवन—जिसे अधिक प्रचलित भाषा में जनजीवन भी कहा जाता है—के साथ उसकी प्रेरक अभिन्नता कविता की एक ऐसी मान्यता है जो हर युग में हर देश में सब से महत्वपूर्ण मानी जाती रही है। पूँजीवाद के विकास और अन्त में साम्राज्यवाद और फैशिज्म के रूप में उसकी परिणति के युग में कविता का यह सार्वजनिक सम्पर्क टूट गया था और वह थोड़े से चुने हुए लोगों के विलास और मनोरंजन, काल्पनिकता, निष्क्रियता और स्वरत अहंकार की तुष्टि का एक विकृत साधन बन कर रह गई थी। इसका फल यह हुआ कि धीरे धीरे वह स्वइच्छा-परिपूर्ति या wish fulfilment में ही क्रान्ति का दावा करने लगी और हिन्दी में एक युग ऐसा भी आया था जब सब से बड़ा पलायन-

वादी कवि ही सब से बड़ा क्रान्तिकारी या युगान्तरकारी कहलाने लगा था। छायावाद के बड़े बड़े आचार्यों की अधिकाँश कवितायें इसी wish fulfilment की व्यक्तिवादी चेष्टायें हैं और रोमान्टिक ढंग के बड़े क्रान्तिकारी कवियों की कवितायें भी इस निरर्थक मोह को छोड़ नहीं पाईं। जिस जन-कर्म और जन-रस की माँग कविता से प्रगति के नाम पर की जानी चाहिये उसकी माँग हिन्दी आलोचना में हाल में ही हुई है और कविता को एक सामाजिक सृजन और लोक-कला बनाने या यत्न भी इस लोकयुद्ध काल में ही वैज्ञानिक और सामाजिक ढंग पर आरम्भ हुआ है। और यह सब स्वतंत्र प्रयत्न या स्वतंत्र कलात्मक अभिव्यक्ति मात्र नहीं है। जिस महान और नई प्रोलेतेरियत वर्ग (जो एक वर्गहीन सामाजिक प्रयोग है) की एक विश्व संस्कृति का निर्माण मार्क्सवाद के समाज दर्शन में हुआ है उसके अन्तर्गत साँस्कृतिक जागरण की ये सारी चेष्टायें आ जाती हैं। क्रान्तिकारी संघर्ष के समूचे ऐतिहासिक विकास के भीतर संस्कृति और कला के प्रयत्नों को सदैव अधिकाधिक महत्व दिया गया है। लेनिन का यह विश्वविश्रुत सिद्धान्त कि "साहित्य को तो जनता के महान विकास और प्रगति का ही एक अंग होना चाहिये" आज भी संसार की सब से बड़ी और क्रान्तिकारी पार्टी का नारा बना हुआ है। लेनिन ने लिखा है—"कला जनता की विरासत है"। उसकी व्यापक और प्रसरणशील जड़ों को विस्तृत जनता के मर्म तक पहुँचना चाहिये। उसमें जनता के विचारों, इच्छाओं और भावों की वह सामूहिक परिणति होनी चाहिये जो लोक परम्परा की प्रगति को बल दे सके। और रूस की साम्यवादी जनता ने कला को यही क्रान्तिकारी योजना प्रदान की है और साहित्य शास्त्र को यही अभिनव अर्थ दिया है कि जनता की सेवा, मानवता की विविधमुखी प्रगति के साथ पूर्ण विनियोग ही

साहित्य और कला का लक्ष्य होना चाहिये। यह सब केवल गद्य और इतिहास, राजनीति और सामाजिक अर्थशास्त्र तक ही सीमित नहीं है वरन इस महान परम्परा के अन्तर्गत कविता, संगीत, चित्रकला आदि सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म ललित कलायें आ जाती हैं। कला के भीतर की मानवीयता ही उसका सबसे बड़ा तत्व है और यह मानवीयता अधिक से अधिक सच्चे और सबल, विकासशील और निर्माणोन्मुख रूप में तभी साहित्य और कला में प्रवेश पा सकेगी जब साहित्यकार या कलाकार उस श्रेणीविहीन, समाजवादी समाज का एक चेतन सदस्य होगा जो समस्त सामाजिक और मानवीय सम्बन्धों में निहित शोषण और पारस्परिक आर्थिक निर्भरता या दासता का अन्त कर सब को बराबर और एक सी सुविधायें प्रदान करता है। स्पेन्डर के शब्दों में जब सब सामाजिक इकाइयाँ बराबर बराबर व्यय कर सकेंगी (when men shall spend equally)। इसलिये उस व्यवस्था को—उस सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति को कार्यान्वित करने में जो साहित्य सहायता या पूर्ण योग नहीं देता—जो एक नयी क्रान्तिकारी जनपीढ़ी का निर्माण नहीं करता—कलात्मक कृतित्व के रूप में समाज को एक ऐसा प्रबल अस्त्र नहीं प्रदान करता जो शोषकों और शोषितों के इस महान गृह युद्ध और बाह्य युद्ध में निर्भयता पूर्वक प्रयोग किया जा सके वह प्रगतिशील साहित्य नहीं है। केवल इन्किलाबी नारों और क्रान्ति के स्वागत गानों से ही प्रगतिशीलता नहीं चरितार्थ होती। प्रगतिशील कवि तो वही है जो श्रमजीवी वर्गों में क्रान्ति की जलन और अकुलाहट उत्पन्न करता है—उनके भीतर समाजवादी विप्लव और बगावत की चेतना पैदा करता है और पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और फैशिस्टवाद जैसे नारकीय जन शत्रुओं से आजीवन और आमरण संघर्ष के लिये उन्हें संगठित करता है। रूस और अन्य यूरोपीय देशों में यही हुआ है।

बड़ी से बड़ी सृजनात्मक कला वहाँ कोटि कोटि कमकरों के क्रान्तिकारी आदर्श की उपलब्धि और परिपूर्ति के लिये व्यवहृत हुई है। बड़ी से बड़ी काव्यात्मक प्रेरणायें और परिष्कृतियाँ वहाँ जन-शक्ति की इसी संगठित बल-योजना को लेकर चली हैं और जनजीवन की विप्लवी गेयता का सामूहिक रस उनमें फूटा है। हिन्दी में भी वह कोमलकान्त पदावली और इन्द्रधनुषी रंगीनियों वाली मधुर कविता आज पूँजीवाद के नाश की, साम्यवाद की स्थापना की एक दृढ़ और तीक्ष्ण हुँकार बन गई है। 'सुमन' की ये ओजस्वी बंदिशें देखिये—

युगों की सड़ी रूढ़ियों को कुचलती,
ज़हर की लहर सी लहरती मचलती,
अँधेरी निशा में मशालों सी जलती,
चली जारही है बढ़ी लाल सेना।

समाजी विषमता की नींवें मिटाती,
गरीबों की दुनिया में जोवन जगाती,
अमीरों की सोने की लंका जलाती,
चली जारही है बढ़ी लाल सेना।

या नरेन्द्र शर्मा की खींची रूस की यह तस्वीर देखी जाय जिसको हिन्दुस्तान में पैदा करने के लिये कौन नौजवान व्याकुल नहीं हो उठेगा—

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना
सजी रास की ढेरी पर लालाजी घात लगाते ना
ब्याज चुकाते ही न जवानी गई कसील जवानों की
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का

दुश्मन है सब मज़दूरों का दुश्मन सभी किसानों का।

× × ×

यह दुनिया तस्वीर बनेगी दुनिया के अरमानों की।

यह रणगर्जना समाज की उन समस्त प्रगति विरोधी शक्तियों के प्रति है जो इन्क़िलाब का प्रतिकार करलेगें ऐसा सोच कर शोषण करने वाली और आर्थिक दासता का जघन्यतम रूप समाज में पोषित करती रहने वाली शक्तियों का साथ देते है और साम्यवाद की बढ़ती हुई लाल क्रान्ति की महान विप्लाविका प्रगति का विरोध करते हैं। पन्तजी की 'वे आँखें' शीर्षक कविता में जिस किसान का चित्र है वह देश के करोड़ों किसानों का प्रतिनिधि है। उस किसान की आँखों में कौन सी वेदना—कौन सी विदारक प्रतिहिंसा—कौन सी खूनी ज्वाला होगी जिसके हरे भरे लहलहाते खेत बेदखल हो गये, जवान लड़का कारकुनों की लाठी से मारा गया, घर द्वार महाजन ने कुर्क करा लिया, बिटिया दूध न पाने से मर गई, जिसकी लक्ष्मी सी सतवन्ती बहू कोतवाल की नृशंसता और कामाघात के कारण कुँए में डूब कर मर गई यह या तो राहुलजी और सहजानन्द बता सकते हैं या पन्त की यह विदग्ध वर्णना :—

अन्धकार की गुफा सरीखी उन आँखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण दैन्य दुःख का नीरव रोदन
मानव के पाशव पीड़न का देतीं वे निर्मम विज्ञापन
फूट रहा उनसे गहरा आतंक, क्षोभ, शोषण, संशय भ्रम
डूब कालिमा में उनकी कँपता मन उनमें मरघट का तम
ग्रस लेती दर्शक को वह दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन
झूल रहा उस छाया पट में युग युग का जर्जर जनजीवन

यह हिन्दुस्तान की महान किसान जनता का खून चूसती हुई ज़मींदारी और नौकरशाही के दोहरे षड़यन्त्र का नग्न चित्र है जो आज १०० वर्ष से अधिक से जनता की जिन्दगी को चूस रहा है। इस काले, नारकीय, पैशाचिक और रक्तस्नात शिकंजे ने कितनों के जीवन के समस्त उल्लास, सौख्य और जीने की स्वस्थ्य वृत्ति को हर कर उन्हें एक दूसरे की कारबन कापी बना दिया है। यही वह भयानक शैतान है जिसने बंगाल के अकाल में लाखों की जानें लीं और करोड़ों के भीतर के मनुष्य को सदैव के लिये मार डाला। इसी के शर्मनाक साये के नीचे, पूँजीवाद के इसी कुत्सित देश द्रोह ने बंगाल की लाखों बहनों को पेट भर चावल और १० हाथ कपड़े के लिये अपनी अस्मत लुटाने पर मजबूर किया। गावों में रहने वाले अशिक्षित, भयभीत रूढ़िग्रस्त किसानों के दिल पर इस तरह की अपमान और लाचारी—बहू बेटियों की बेइज्जती और शिशुओं के उत्पीड़न के कितने घाव हैं यह शहर में रहने वाले मध्यवर्ग और उच्च्य वर्ग के लोग क्या समझेंगे? तभी दिनकर ने बिहार के ज़मीदारों का चित्रण करते हुए लिखा है—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं
युवती के लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण

उधर पन्तजी का चित्र देखिये—

उजरी उसके पास किसे कब पास दुहाने आने देती
अह आँखों में नाचा करती उजड़ गयी जो सुख की खेती

बिना दवा दर्पन के गृहिनी स्वरग चली आँखें आती भर
देख रेख के बिना दुधमुँही बिटिया दो दिन बाद गई मर

किसान के ऐसे ही कई चित्र मेरी कविताओं में उतरे हैं जिनमें से मैं यहाँ केवल एक देता हूँ—

इन खलिहानों में गूँज रही किन अपमानों की लाचारी
हिलती हड्डी को ढाँचों ने पिटती देखीं घर की नारी
जब लोट लोट सी पड़ती हैं ये गेहूँ धानों की बालें
है याद इन्हें आती मानों जब खिंचती थीं तेरी खालें
युग युग के अत्याचारों की आकृतियाँ जीवन के तल में
घिर घिर कर पुन्जीभूत हुईं ज्यों रजनी के छाया छल में

× × ×

इसकी भी आई थी आमों सी बौराती प्रखर जवानी
किन्तु गई चुपचाप ज़मीदारों के भय की छोड़ कहानी
उन ज़ुल्मों की याद न पूँछो ! जल उठता प्रति रोम सिहर कर
दबे कंठ से रोती पछुआ—बीती रजनी अभी प्रहर भर

साहित्य और सुरुचि के नाम पर प्रगतिवादियों को पग पग पर बदनाम करने वाले जो लोग साम्यवादी यथार्थवाद से घबराते हैं और अश्लीलता का आरोप लगाते हैं—उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि पन्तजी की नीचे लिखी पन्तियों में नैतिकता की वह ऊँची से ऊँची पावनता है जो युगों के पापों का प्रायश्चित्त कर रही है—

योनि मात्र रह गई मानवी निज आत्मा कर अर्पण
पुरुष प्रकृति की पशुता का पहने नैतिक आभूषण
नष्ट होगई उसकी आत्मा त्वचा रह गई पावन
युग युग से अवगुन्ठित गृहिणी सहती पशु के बन्धन

खोलो है मेखला युगों की कटि प्रदेश से तन से
अमर प्रेम हो बन्धन उसका वह पवित्र हो मन से
अंगों की अविकच इच्छायें रहें न जीवन पातक
वे विकास में बनें सहायक होवें प्रेम प्रकाशक

समाज की समस्याओं और आवश्यकताओं के अनुसार कला में सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ बदलती रही हैं। नैतिकता के विशुद्धतम और समाजोन्नायक रूप का पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैंने कला और उसकी आलोचना के धार्मिक और आचारिक मापों के बीच कभी कोई सम्बन्ध नहीं देखा। कुरुचि और सुरुचि, श्लीलता और अश्लीलता की कसौटियाँ बदलती रहती हैं परन्तु कविता में जो कभी कभी नैतिकता की नग्न ज्वाला फूट पड़ती है वह फिर युगों तक अविराम जलती जाती है। डा० रामविलास शर्मा की निम्नलिखित कविता को आदर्श की संकुचित व्याख्या और रूढ़ियों के प्रतिक्रियाशील वातावरण में जो लोग अनैतिक कहते हैं वे नैतिकता की उस सर्वभुक ज्वाला को नहीं देख सकते जो समाज के समस्त दुराचार, गुप्त व्यभिचार और ढोंग को चुनौती देती है—

बहनजी,
बरसों से संबोधित करते सुन्दरियों को इसी भाँति
सच मानो बहनजी,
भूल सा ही गया हूँ, बहन क्या होती है

और ढोंगियों का इन पन्तियों को पढ़ कर तिलमिला जाना ठीक ही है। केदार की नीचे दी हुई पन्तियों में सामाजिक ग़रीबी और अभावों पर कितना कठोर और निर्दय व्यंग है—

वैभव की विशाल छत्रछाया में
स्वर्ण सिंहासन पर
रक्खी देख मन्दिरों में पत्थर की मूर्तियाँ
लुब्ध हो गर्भवती
ईश्वर से माँगती है वरदान
केवल पाषाण हो
कोख की मेरी भी सन्तान

केदार की यह कविता पढ़ कर मुझे गुजराती के किसी प्रसिद्ध कवि की एक कविता का भाव याद आगया। सेठानी मरी पड़ी है। इसके शरीर पर एक कीमती चुनरी है। वह बाद में भंगिन को मिल जायगी। भंगिन सोच रही है उस चुनरी को वह अभी सहेज कर रक्खेगी और उस दिन पहनेगी जब उसके लड़के का विवाह होगा। गर्भवती शोषिता भी अपनी भूखों मरती सन्तानों को देख कर और उनकी अपेक्षा पत्थर के टुकड़ों का अधिक आदर और सम्मान देखकर यदि यह सोचती है कि मानव पिन्ड प्रसव करने से तो पाषाण पिन्ड प्रसव करना ही श्रेयस्कर है तो यह उचित ही है और इस पूँजीवादी श्रमशोषक समाज-व्यवस्था पर एक ठोकर है जो सब के दुःखों की भित्ति पर अवलम्बित है। इस सामाजिक दुख और कड़ुआहट की अभिव्यक्ति को अश्लीलता कहना साहित्य के मूल में घर करते हुए उस सामाजिक दर्शन और द्वन्दात्मक समाज शास्त्र के प्रति अवहेलना प्रकट करना है जिसकी चेतना समय की शक्तियाँ कला के स्रोतों में पैदा कर रही हैं। केदार ने ऐसे ही कोरे स्वप्न द्रष्टाओं को लक्ष्य कर कहा है—

ज़िन्दगी की भीड़ में कन्धा रगड़ने और चलने से परे हो
आदमी की आफ़तों से, आदमी की मौत से एकदम डरे हो,

रेंगते हैं नाग बस्ती में धुँए के, देख कर तुम भाग आये
खून आँसू का—पसीने का धरातल दूर पीछे त्याग आये
कायरों की माँद में बैठे अकेले अन्ध चिन्तन कर रहे हो
हीन दुर्बल भावनाओं का निरर्थक सिन्धु मन्थन कर रहे हो
वृद्ध वेश्या कल्पना की ओर मारुत मन उड़ाते जा रहे हो
धृष्ट बौने ज्ञान का लघु हाथ ऊपर ही उठाते जा रहे हो

इसी भाव और कल्पना का अधिक व्यापक और इस विश्व-युद्ध की पार्श्वभूमि पर खड़ा किया गया नरेन्द्र का यह संघर्षपूर्ण चित्र देखिये—

उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ मन मेरी ही बस्ती क्या
धब्बों से मिट रहे देश जब तो मेरी ही हस्ती क्या
बरस रहे अंगार गगन से धरती लपटें उगल रही
निगल रही जब मौत सभी को अपनी ही क्या जाय कही
जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के
जाने कब तक सच्चे होंगे सपने सब की समता के
रक्त-स्वेद से सींच मनुज जो नई बेल था रहा उगा
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी लाल सितारा फूल लगा
इस अंकुर पर घात लगी तो मेरे आघातों का क्या
टूट फूट दुनिया कराहती मेरे सुख सपने ही क्या

स्पष्ट है कि कविता में जिस सामूहिक रस की सब से पहली माँग की जाती है उसका नकारात्मक रूप उपरोक्त दोनों टुकड़ों में होते हुए भी किस खूबी से जीवन की मानवीय अवस्थाओं का चित्रण हुआ है और नरेंद्र की कविता में कितनी व्यापक और सही तस्वीर खिंची है। साथ ही अपनी सक्रिय शक्ति से इस विपरीत सामाजिक वस्तुस्थिति को बदलने की, प्रगति के नवनिर्माण युग परिवर्तन को त्याग और

कष्ट-सहन से उपलब्ध करने की प्रेरणा देकर कवि और आगे बढ़ता है :—

युग परिवर्तन के इस युग का मूल्य चुकाना ही होगा
उसका सच ईमान नहीं है आज न जिसने दुख भोगा

महान सोवियत के लिये 'सुमन' लिखते हैं-—

ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह मज़लूमों का प्यारा।
हड्डी की ईंटों से जोड़ा गया ख़ून का गारा
प्रबल आँधियाँ भीषण लहरें आई थीं अज़माने
टक्कर खा खा लौट गईं पर हिली नहीं चट्टानें
यह इस युग के संघर्षों का सब से प्रबल प्रतीक है
लाल फ़ौज ने लाल ख़ून से आज बनाई लीक है
इस जागृति के स्वर मे जन जन कण कण आज शरीक है

उदयशंकर भट्ट ने अपनी 'विद्रोही' कविता में मार्क्सवादी समाजवाद का और विश्व के साम्राज्यवादी विग्रह का चित्र खींचा है—

अरे आज भी उसी धर्म ने तुम्हें गिरा कर पशु कर डाला
और स्वार्थ ने मन्थर गति से चल कर मानव को मथ डाला
एक पृथकता तुमने नर के अन्तर में फिर आकर भर दी
एक भेद की भित्ति सुदृढ़सी लाकर खड़ी कहीं से कर दी

और मज़दूर का यह ऐतिहासिक कथन सुनिये—

युग युग का मेरा रुद्ध मौन मेघों के गर्जन सा महान
मुझ पीड़ित के सब प्राण चूस अपरूप हो उठा मूर्तिमान
चींटी सा निर्बल श्रम-समाज रेंगती भूख व्याकुल कतार
मेरी निशि डाकों का विलास—मेरा दिन मिल का अन्धकार

मेरी बरसातें आँसू रे मेरा वसन्त पीला शरीर
गरमी झरनों सा स्वेद स्रोत मेरे साथी दुख दर्द पीर
दिन उनको मुझको रात मिली श्रम मुझे—उन्हें आराम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले हन्टर को सूखा चाम मिला

हरिकृष्ण 'प्रेमी' की क्रान्ति की चिनगारी धीरे धीरे आज एक जन-दावानल के रूप में लहक रही है—

संग धैर्य ने छोड़ दिया पर तुमने मेरा साथ न छोड़ा
बार बार टूटी साँसों का तुमने हँस हँस धागा जोड़ा
हाथ पकड़ कर खड़ा किया फिर रण सज्जा से मुझे सजाया
"कायरता ही प्राण मृत्यु है" बार बार यह पाठ पढ़ाया
मरते हुए जियो मत प्रियतम जीते हुए भले मर जाओ
अन्तिम क्षण तक विद्रोही रह नहीं किसी को शीश झुकाओ
जब से पैदा हुए न हमने एक घड़ी भी सुख को जाना
कितना कठिन पेट का खन्दक भरने को दो दाने पाना
मुट्ठी भर लोगों ने जग का लूट रखा है सभी खज़ाना
आज व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है आज बदलना हमें जमाना
इन विपरीत भयंकर लहरों में चिन्ता क्या हम खप जावें
आने वाली पीढ़ी को भी यदि साहस का मार्ग दिखावें

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की 'जूठे पत्ते' का हिन्दी के प्रगतिशील काव्य में ऐतिहासिक महत्व है जिस प्रकार निरालाजी के बादल राग तथा अन्य कुछ कविताओं का है। 'नवीन' की कविता में जिस बोल-शेविक दृढ़ता और प्रतिहिंसा का वेग है वह प्रगति को एक निष्क्रिय थ्योरी न मानकर उसे एक सजीव सामाजिक और शासन-परिवर्तिका

शक्ति के रूप में देखता है—

क्या देखा है तुमने नर को नर के आगे हाथ पसारे
क्या देखे हैं तुमने उसकी आँखों में खारे फव्वारे
देखे हैं—फिर भी कहते हो कि तुम नहीं हो विप्लवकारी
तब तो तुम पत्थर हो या हो महाभयंकर अत्याचारी
लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ आज आग इस दुनिया भर को
यह भी सोचा क्यों न टेटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का
भूखा देख तुझे गर उमड़े आँसू नयनों में जन जन के
तो तू कह दे नहीं चाहिये हमको रोने वाले जनखे
तेरी भूख ज़िहालत तेरी यदि न उभाड़ सके क्रोधानल
तो फिर समझूँगा कि हो गई सारी दुनिया कायर निर्बल

निराला जी का बादल राग शायद उस समय की लिखी रचना है जब श्रीहरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय भी रूस से लौट कर नहीं आये थे। इस कविता में जनक्रान्ति का कवित्वपूर्ण रूपक बाँधा गया है और महान सोशलिस्ट परिवर्तन का आह्वान किया गया है—

अट्टालिका नहीं है रे
आतंक भवन
सदा पंक पर ही होता
जल-विप्लव प्लावन
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर

रोग शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष
अंगना अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र गर्जन से बादल
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार !

जिस समय देश के यौवन, आत्मोत्सर्ग, विद्रोह और इन्क़लाब के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि सैकड़ों क्रान्तिकारी जेलों में राजवन्दियों के साथ न होने वाले मानवोचित व्यवहार की माँग के लिये अखन्ड अनशन कर रहे थे और जिस महान यज्ञ में अमर शहीद यतीन्द्रनाथ दास का हृदकम्पी बलिदान हुआ था उसके अवसर पर लिखी गई 'एक भारतीय आत्मा' की 'मरण त्यौहार' शीर्षक कविता के कुछ छन्द देखिये और मानवता का यह महान मर्सिया लिखने वाले, हिन्दी के एक दूसरे प्रवर्तक कवि की जलन, बेचैनी और आघातकारिणी कल्पना की अनुभूति कीजिये। प्राणों की बलि लगाने वाले देश के यौवन के फूलों की यह क़ुरबानी हमारे राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास के सब से गौरवमय परिच्छेदों में एक है।

जानती हैं ज़ोर घर की वायु का
जानती हैं समय अपनी आयु का
जानती बाज़ार दर अपनी अहो
जानती हैं वृष्टि के दिन—मत कहो
जानती हैं—सब सबल के साथ हैं
किन्तु रवि के भी हज़ारों हाथ हैं
बेकलेजे ही, कठिन तम लाद कर
अब श्मशानों को स्वयं आबाद कर
एक से लग एक हम पलती रहें
और बलि बहनें बढ़ें—फलती रहें
सूर्य की किरणें कभी तो आँयगी
जलन की घड़ियाँ उन्हें ले आँयगी

× × ×

जम्बुकेश ! चलो जहाँ संहार है
वन्य पशुओं का लगा बाज़ार है
आज सारी रात कूकेंगे वहाँ
मोम दीपों का मरण त्यौहार है

और देश की स्वातंत्र्य चिनगारियों के प्रति कवि का प्रेरक आह्वान—आद्याशक्ति को कवि की ललकार—

वृक्ष के अंतर्हृदय की री ! मृदुलतर शक्ति
फलों की जननी—सुगन्धों की अमर अनुरक्ति
छोड़ तू बड़ भागिनी ! ये उभय लालच छोड़
क्योंकि माता हिमकिरीटिनि माँगती है दान
वे अमर तारुण्य होना है तुझे क़ुरबान

और कैसे यह व्यक्ति व्यक्ति की ज्वाला सामूहिक क्रान्ति का रूप लेकर

एक महान परम्परा स्थापित करेगी यह 'प्रेमी' के मुँह से सुनिये—

मुँह से आह निकल जाये तो प्रस्तुत है शासन का कारा
घुटता ही रहता प्राणों में युग युग से अभिमान हमारा
भूल गये हम भी जीवित हैं—भूल गये साँसो में बल है
देख नही पाते हैं अपने साथ असंख्य जनों का दल है
एक एक ईंधन की लकड़ी अलग अलग क्यों सुलगें थोलो
जलें—साथ मिल लपटें लपकें महाक्रान्ति का घुँघट खोलो

और इस महान परिवर्तन—इस आमूल क्रान्ति—इस साँस्कृतिक नवविन्यास की आवश्यकता क्यों है—इस महाजनी पूँजीवाद और ज़मींदारवाद ने देश को किस सीमा तक तबाह कर दिया है—मानव को नाली के कीड़ो से भी बदतर बना दिया है—रक्तदोहन की इस सामाजिक क्रिया का चित्रण भगवतीचरण वर्मा की भैंसागाड़ी में देखिये। वह प्रगतिवादी कविता ही क्या है जो खून में श्रेणी संघर्ष की आग न पैदा करे।

वह राज काज जो सधा हुआ है इन भूखे कंकालों पर
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल तिल मिटने वालों पर
वे व्यौपारी, वे ज़मीदार वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त
इस राजकाज के वही स्तम्भ उनकी पृथ्वी उनका ही धन
ये ऐश और आराम उन्हीं के और उन्हीं के स्वर्ग सदन
उस बड़े नगर का राजरंग हँस रहा निरन्तर पागल सा
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन

× × × ×

उस ओर क्षितिज से कुछ आगे कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर

मैं कहता हूँ खँडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम
जिसमें भर देती निज धुँधलापन असफलता की सुबह शाम
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना बस यह लोगों का एक काम

प्रगतिवादी और क्रान्तिवादी कविता हिन्दी के लिये अब कोई नवीन प्रयोग नहीं रह गई है। हिन्दी का प्रत्येक सजग लेखक और कवि यह अनुभव कर रहा है कि पूँजीवादी व्यवस्था भारत की महान सभ्यता और संस्कृति के निरन्तर ह्रास और पतन का ही पर्याय है। जब देश का सारा समाज, सारे वर्ग, यहाँ तक कि प्रत्येक व्यक्ति ग़रीबी भूख और बीमारी से बेज़ार होगया है और लाल फ़ौज की ऐतिहासिक प्रगति ने एक लोक क्रान्ति की संभावनायें मुक्त कर दी हैं तब इन्क़लाब और लाल परिवर्तन के इस महान सन्देश को देश के कोने कोने तक पहुँचाने में कवि और नौजवान कवि ही क्यों पीछे रहें? दूसरी ओर जहाँ देश में आज़ादी की लालसा अपनी सब से ऊँची सीमा पर पहुँच गई है और चारों ओर से जनता स्वतंत्र होने के लिये उत्तेजित हो उठी है वहाँ यह भी सबकी समझ में आगया है कि हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई में मज़दूरों और किसानों का ही प्रमुख हिस्सा होगा। भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का प्रत्येक सिपाही आज यह मानता है कि पूँजीवाद ही सारे सामाजिक पापों, आर्थिक अनुशासनों और नैतिक अनाचारों की जड़ है और उसे देश की सुजला और सुफला भूमि से सदैव के लिये मिटा देने को वह कटिबद्ध है। अग्नि शिखा की तरह कवि की आत्मा आज गाते गाते जलती है और जलते जलते गाया करती है। उसके लिये जलना और गाना दोनों आवश्यक हैं। इसीलिये हिन्दी कविता में जहाँ एक ओर सामाजिक विषमताओं और असंगतियों के कटुचित्र मिलते हैं वहीं कर्म की लाल प्रेरणा देने वाले

रोमान्स की भी कमी नहीं है। और रोमान्स यदि स्वस्थ्य और सजीव है—जीवन की चालक वृत्तियों का अवरोध न करके यदि वह उनके विकास के स्रोतों को मुक्त और प्रशस्त करता है, वर्तमान की विभीषिका, दुःख और समस्याओं को अतीत के ध्यान में भुलाने की चेष्टा न कर यदि वह व्यक्ति व्यक्ति को जाग्रत कर के समस्त समाज-सम्बन्धों को नव निर्माण के लिये उत्कंठित करता है तो वह जीवन के माध्यम से ही आता है और उसे काल की शक्तियाँ कभी रोक नहीं सकतीं। अपनी अपूर्णता के आत्मबोध में जब मनुष्य जीवन की टिप्पणियाँ लिखने में असमर्थ हो जाता है—कर्म की रेखायें खींचने में जब उसे एक सामाजिक साथी की आवश्यकता प्रतीत होती है तब वह अपने विवेक के आन्दोलन के प्रकाश में उसे ढूँढ़ निकालता है और उसके संपर्क का आग्रह उसकी कविता में जाग उठता है। रोमान्स के नाम से घबराने वाले और उसे बात बात पर तिरस्कृत करने वाले नये प्रगतिवादियों से मेरा एक निवेदन है। वे यह न भूलें कि जो रोमान्स जीवन के कर्म पक्ष को बलवान बनाने की दीक्षा देता है—मानवता की जाग्रत सेवा के सम्मुख जो सपनों की रंगीनी को कम महत्व देता है वह सदैव मानव को जीवन के समस्त अवरोधों से जूझने के लिये रणक्षेत्र की ओर ले जायगा। परन्तु इसके लिये आवश्यक है कि वह सामाजिक घात प्रतिघात की वैज्ञानिक चेतना के आधार पर स्थित क्रान्तिकारी योजनाओं के पथ पर निर्भयता पूर्वक पग बढ़ाये। इस जनपथ पर चलने वाले कवि का रोमान्स ही अधिक सामूहिक और 'आबजेक्टिव' हो सकेगा। साथ ही वह व्यक्तिवाद की रुग्ण परिधि से निकल कर अधिक यथार्थ और जनसंपर्कमय होगा। मैं उस रोमान्स का विरोधी हूँ जो क्षयी और मरणशील इतिहास का मोह लेकर जीवन में आता है—जो प्राचीन-प्रियता के नशे में भुला कर हमें आदि मानव की ओर ले जाता

है और समाज के वर्तमान और बलवान प्रवाहों के भीतर से एक शिव आदर्श की खोज करने का संकल्प नहीं प्रदान करता। रोमान्टिक प्रभावों से मुक्त करने और कविता को विशुद्ध विज्ञान की वस्तु बना देने का यत्न करने वाले कामरेड कवि यह न भूल जाँय कि इस प्रकार के प्रयोग काव्य परिपाक की दृष्टि से समस्त अँगरेज़ी और कन्टीनेन्टल साहित्यों में असफल रहे हैं। देखना केवल यह है कि रोमान्स में जीवन की लौह शृंखलायें—बन्धनों की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ चन्द्र किरणों की तूलिका से लिखे गये पलायनवादी, कोमल, मीठे गीत बन कर न आवें वरन अपनी कुरूपता और कठोरता में स्थिर रहते हुए जीवन की वर्तमान दुरावस्थाओं से मुँह न फेर कर उनसे मोर्चा लेते रहने का बोलशेविक निश्चय और निहलिस्ट दृढ़ता प्रदान करें। तभी रोमान्स में उस गहरी मानव-भावना और पलायन के प्रति घृणा का जीवनोन्मुख उच्चार होगा जो जीवन से भाग कर, आत्माहीन, निष्प्राण और मृत प्रेम में आश्रय खोजने और हाथीदाँत के स्वरत मीनारों में जाकर छिपने की प्रवृत्ति का खात्मा करेगा। जीवन में ज्यों ज्यों क्रान्तिकारी प्रगति और सामाजिक परिवर्तनों का अनुभव बढ़ेगा त्यों त्यों मानव मन और तन में व्याप्त रहने वाली इस रोमान्स की मौलिक सत्ता के साथ सामूहिक और समाजवादी व्यक्ति-चेतना का सुखद सामंजस्य भी स्थापित होता जायगा।

हिन्दी कविता के प्रगतिवादी पक्ष की जो एक अनगढ़ सी रूप-रेखा ऊपर खींची गई है उसमें रोमान्सवाद जगह जगह उभर आया है। परन्तु इसका एक गहरा कारण है। रोमान्सवाद जीवन के असन्तोष, विद्रोह और बग़ावत का ही दूसरा नाम है। अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी राजनैतिक जागरण के साथ साथ साहित्य में उसका प्रवेश हुआ। अँगरेजी साहित्य में भी उसका

युग फ्रान्स की राज क्रान्ति के साथ आया था। हिन्दी कविता के रोमान्टिक जागरण या छायावाद के आरम्भ में वह रोमान्स का ही देश-भक्ति पूर्ण विह्वल स्वर और आकुल विदग्धता थी जिसने 'एक भारतीय आत्मा' निराला और नवीन के गीतों में प्रेरणा की महागति भर दी थी। उस समय सम्पूर्ण हिन्दी भाषी राष्ट्र का हृदय एक अद्भुत जागृति से धड़क उठा था। और आज जब हिन्दी कविता से यह आशा की जाती है कि वह सर्वदेशीय जन आन्दोलन का, वर्गचेतना के उभार और प्रसार का साधन बने, साम्य की रागिनी सुनाये और फैशिज्म के विरुद्ध प्रबल जनमत संगठित करे—उस सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने का फौलादी निश्चय दे जो जनता को अन्न वस्त्र और जीवन की न्यूनतम आवश्यकतायें या काम नहीं दे सकती और जन जन के जीवन को रोग, भूख, दैन्य, युद्ध और साम्राज्यवादी शोषण से सुरक्षित नहीं बना सकती—और यह कविता जीवन के अनुरूप ही पाठकों और श्रोताओं के हृदय में भावों का उद्रेक करे—तब कवि अपने मनो-भावों को एक विशेष प्रकार की रोमान्टिक आकृति दिये बिना कैसे सफल होंगे! एक गाढ़ी रसात्मक पृष्ठभूमि दिये बिना उनकी कविता कैसे प्रभाव पैदा कर सकेगी! समाजवादी क्रान्ति और युग के साम्यवादी परिवर्तन की ओर देश कैसे अग्रसर होगा! वह रोमान्स की उष्ण दीप्ति और सामाजिक विवेक का वैज्ञानिक सन्तुल ही होगा जो कवि को निडर होकर भविष्य की सहयोगी शक्तियों का साथ देने और प्रति-योगी शक्तियों से जूझने का हौसला देगा। इसलिये जिस सांस्कृतिक क्रान्ति के लक्ष्य को लेकर प्रगतिवाद साहित्य में अपने अस्तित्व की वकालत करता है वह उस रोमान्स से बलवती नहीं हो सकेगी जिसमें रूढ़ संस्कार प्रविष्ट हो गये हैं—प्रेम और रति परक भावनायें छा गई हैं और जो मानव जीवन के नर्क को खत्म कर के एक अधिक मानवीय

व्यवस्था की स्थापना पर ज़ोर देने के स्थान पर स्वयं क्षय ग्रस्त खोखले और छिछले सपनों का शिकार हो गया है। एक वैज्ञानिक क्रान्तिवादी यह कहने में कोई संकोच नहीं करता कि वह रोमान्स जो वस्तु जगत को काव्य द्रव्य, काव्यात्मक अनुभूति से रहित और प्रतिक्रिया गामी समझता है—उनकी प्रचंड शक्तियों को, पूँजीवादी शोषण में घुसते हुए अप्रिय मानव जगत को कवि की मनोस्थिति के लिये अग्राह्य और अवाँछनीय मानता है स्वयं अपना विरोधी है और एक नशीले पलायन का ही दूसरा नाम है। परन्तु यह प्रगति नहीं है। प्रगति मानव स्वतंत्रता के सामाजिक विस्तार का ही दूसरा नाम है। और संसार की सभ्यता का इतिहास—समस्त मानवीय संघर्षों का इतिहास प्रसरणशील स्वतंत्रता के सामाजीकरण का ही इतिहास है। वह रोमान्स जो मानव विशाल की सीमा को विस्तृत करता है, मानव की ऊर्ध्वगामिता का सन्देशवाहक है और मानवीय चेतना को समाज की अखण्डित उपकारक क्रिया की लौ से मिलाकर उसे एक तेजस्विता और बल प्रदान करता है कवि के लिये ग्रहणीय है। इस रोमान्स की दीप्ति जीवन की दीप्ति है, जय की दीप्ति है—ज्योति का विश्वास और प्रगति का साधारणीकरण है। परन्तु वह रोमान्स जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को लेकर खड़ा होता है—चाहे जितनी बड़ी सहृदय की माँग करता हो शिव नहीं है क्योंकि वह जिस वैयक्तिक विद्रोह को लेकर चलता है उसमें समाज को एक बनाये रखने वाली सूत्रबद्धता ढीली होती है—जीवन की सर्वजनीन हेतु-वादिता को उसमें धक्का लगता है। ज्ञान पक्ष में भी वह समाज के अस्तित्व को अस्वीकार करता है और मनुष्य के मस्तिष्क को स्वाधीनता की ओर नहीं वरन उच्छृंखलता, अनियम और अराजकता की ओर ले जाता है। प्रेम में तो हृदय फटता नहीं वरन बली हो जाता है और

आत्म गहरी हो जाती है। जब नर नारी के प्रेम के पीछे एक बलवती सामाजिक चेतना—एक प्रगतिशील मनोभूमि होगी तब यह कभी न देखा जायगा कि प्रेम के नशे में मनुष्य अपने दरके हुए, टूटे फूटे हृदय और फटी आत्मा को छिद्रों को ही कुरेदता रहे और अन्तर्मुख होता होता अपने में सदैव के लिये विलीन हो जाय। इसके विपरीत वैज्ञानिक रोमान्सवादी जो सामाजिक प्रगति में विश्वास रखता है सदैव यह सोचता है कि वह समाज का सदस्य है और सामूहिक रसोद्रेक (collective emotion) को जागृत करने की उसकी चेष्टा होनी चाहिये। उसकी अनुभूतियों को जनता अपनी कह सके। यहाँ मैं व्यक्ति के महत्व को कम नहीं कर रहा हूँ। प्रगतिवादी का लक्ष्य ही उस समाज की स्थापना है जिसमें व्यक्ति और समाज के पार्थक्य की रेखा न होगी। जो वस्तु व्यक्ति को अपील करेगी वह समाज को भी अपील करेगी। उस वैयक्तिक अनुभूति का क्या महत्व है जो व्यक्तित्व को सर्वप्रधान बना कर समाज के लिये अपरिचित रह जाती है। फलस्वरूप सोद्देश्य प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

कविता जीवन की अनुचरी है। उसका स्वाभाविक धर्म और मर्म है जीवन का अनुसरण। हमारे प्रगतिशील (तथा कथित ?) कवियों की कल्पना इन्द्रधनुष की रानाइयों में तो उड़ती फिरती है पर काली धुँएली चिमनियों के मुँहों में जाने में घबराती है। जब तक जीवन के संघर्ष साहित्य में नहीं उतरेंगे तब तक साहित्य सूक्ष्म आस्मानी ईथर तरंगों में चाहे जितने तिलिस्मों का निर्माण करे परन्तु वह जीवन को उर्ध्वगति नहीं दे सकता। इसलिये एक मार्क्सवादी यही चाहेगा कि जिस रोमान्स के गीत अब गाये जाँय वह ऐसा हो जहाँ मानव सर्वजनीन आनन्द और उल्लास, स्फूर्ति और प्रमोद के क्षेत्र में प्रवेश करे। ऐसा स्वस्थ्य सामूहिक रोमान्स मानव की न्यायप्रियता

को उभारेगा, उसकी त्यागमयता को बलवती करेगा और उसमें एक आन्तरिक सामूहिक अनुकूलता होगी। जब हमारा आदर्श एक सामाजिक क्रान्ति और नूतन आर्थिक व्यवस्था है तब जो रोमान्स जीवन में विरक्ति न भर कर सभी उपस्थित अड़चनों और अन्तर्विरोधों को नष्ट करने का मनसूबा देता है वह कैसे प्रगतिवाद के विरुद्ध होगा। बाधाओं और विफलताओं, संघर्ष और द्वन्द्वात्मक गति का नाम जीवन है। मैं इस जीवन और रोमान्स को पर्याय मानता हूँ। इसलिये मेरा रोमान्स संघर्ष की उपादेयता को स्वीकार करता है और इस रोमान्स के सम्मुख वह आदर्श है जो किसी भी वैज्ञानिक क्रान्तिवाद के सम्मुख हो सकता है। ऐसे रोमान्स में पाठक को मानवीय कल्याण के संकल्प का आत्मबोध और अपने आदर्शों का वास्तविक विश्वबोध मिलेगा। प्रगतिवादी जिस प्रकार आदर्शहीन व्यक्ति की कल्पना नहीं कर सकता उसी प्रकार आदर्शहीन साहित्य उसके लिये एक 'फ्रस्टेशन' है और ऐसी विकृतियों में उसे कोई रस नहीं मिलेगा। जिस रोमान्स में जीवन के आदर्श और निखरते हैं—जिसके भीतर सब के जीवित रहने और सुखपूर्वक जीवित रहने का विमल बोध उदय होता है, शत्रु से मोर्चा लेने की जीवनी शक्ति संचित होती है—मानव मात्र की एकता और समानता का सिंहनाद जिसके भीतर से फूटता है वह उग्र से उग्र जीवनदर्शन और समाजदर्शन में स्थान पाता रहेगा। परन्तु सौन्दर्य्य के प्रति वह दुर्बल किन्तु दुर्दमनीय खिंचाव और उत्कट आसक्ति जो कवि के अन्तर्जगत और बहिर्जगत के बीच एक अलंघ्य प्राचीर खड़ी कर देती है और रूप की पिपासा से इसे कवि-व्यक्तित्व के साथ जब बाह्य सामाजिक चेतना का सम्बन्ध नहीं हो पाता तब रोमान्स स्वरति बन कर रह जाता है। आज समाज के हृदय में चलने वाले द्वन्द्व, 'क्राइसिस,' बेचैनी और छटपटाहट अपनी अभिव्यक्ति के लिये नूतन

शैलियों और काव्यदर्शनों का निर्माण कर रहे हैं। आज युग की स्पष्ट माँग है—बनने के क्रम में संलग्न सामाजिक विकास के इतिहास की ललकार—है कि इस कुत्सित, अप्रिय, भयानक, खूँख्वार और शोषण के समर्थक वर्तमान के ध्वंस पर एक नूतन समाज की रचना की जाय जिसमें व्यक्ति द्वारा व्यक्ति, वर्ग द्वारा वर्ग और देश द्वारा देश का शोषण न हो सके। सच्चा रोमान्स इस ध्वंस और नव निर्माण की प्रेरणा को लेकर चलता है और एक प्रखर सजीव विद्रोह का अधिष्ठाता है। आज तो प्रकृत कवि का यह लक्ष्य है कि वह व्यक्ति और समाज के बीच में अधिक से अधिक सामंजस्य स्थापित करे—स्वस्थ्य रोमान्स के बहिर्मुख स्वरूप देकर और उसका सामाजीकरण कर के व्यक्तिवाद को ह्रासोन्मुख शक्तियों को सदैव के लिये साहित्य में खत्म कर दे। इस विश्व-युद्ध के बाद आने वाले पूँजीवादी अर्थ-संकट को झेलने के लिये और उसमें प्रगति की शक्तियों को जीवित रखने के लिये न केवल वर्गहीन (declassed) विचारकों की पीढ़ी ही पर्याय होगी वरन एक महान जन पीढ़ी का निर्माण भी करना होगा। प्रगतिवादी कविता को इसी सामाजिक मोर्चे की दृढ़ मनोभूमि तैयार करनी है।

परन्तु समाज के वर्ग-विषमता और अन्य हीनता की चेतनाओं से मुक्त हो जाने पर भी मानव का मन उन सुकुमार भावनाओं पर स्वभाव से ही दृढ़ विश्वास रक्खेगा जो अनवरत दुःख, शोक, थकावट, ग्लानि और निरुत्साह के बीच भी उसे दृढ़ रखती हैं। बुद्धिवादी वैज्ञानिकता यदि एक सामाजिक क्रिया के रूप में काम करती है और जीवन के सामाजीकरण में योग देती है तो वह हृदय की सुकुमार वृत्तियों की अवहेलना नहीं कर सकती। एकनिष्ठ प्रेम का आदर्श समाज में सदैव रहेगा और उसी के प्रकाश में जब कवि के व्यक्तित्व के साथ सामाजिक या बाह्य तत्व का एक organic समन्वय हो जायगा तभी उस

प्रभावशालिनी काव्य परम्परा और रसदर्शन की नियोजना साहित्य में होगी जो जन जन के हृदय में चलने वाली सामाजिक चेतना और व्यक्तिगत चेतना का विरोध नष्ट कर सके।

कविता जिस आदर्श या सत्य की प्राप्ति का उद्देश लेकर चलती है वह अमूर्त, अपरिवर्तनशील और ध्रुव नहीं है। लेनिन के शब्दों में सत्य या आदर्श का जन्म यथार्थ से होता है। यथार्थ सामाजिक मनुष्य के संग्राम मुखर, विरोधों से भरे इस जीवन का ही दूसरा नाम है। कविता इसी यथार्थ के आत्मीकरण और उपलब्धि का एक उपाय है। सच्चा कवि इसी यथार्थ के साथ अविच्छिन्न संग्राम कर के उसे रूपान्तरित करता है। जीवन तो सत् और असत् के द्वन्द्व के बीच से होकर चलने वाली मानवीय जय यात्रा का प्रतीक है। रोमान्टिक कवि इस जय यात्रा के बीच में जो विराम और विश्राम जो—पड़ाव चाहिये उनका कवि है। मनुष्य के सक्रिय सामाजिक जीवन के संग्राम में, उसके परिवर्तनशील वातावरण के युगान्तर में, रोमान्टिक कविता में वर्णित रस संवेदना और रस चेतना प्रत्येक युग में आत्म प्रकाश करती है। साहित्य की समस्यायें समाज के रूप परिवतन और नवनिर्माण की समस्यायें होती हैं इसे भूल जाना साहित्य और समाज के सम्बन्ध की अभिन्नता और अविरलता को भूलना है। सामाजिक शक्तियों और अनुभवों से अलग जाकर साहित्य और कला केवल स्वइच्छा परिपूर्ति और स्वरति का साधन मात्र रह जायँगे। गोर्की ने ठीक ही कहा है कि व्यक्तिवाद वैयक्तिक पूँजीवाद की भूमि पर ही पैदा हुआ और पनपा है। और यहीं से आर्थिक और सामाजिक शोषण के साथ साथ साँस्कृतिक और बौद्धिक शोषण आरम्भ हुआ है।

कविता में गीति तत्व सामाजिक अनुभवों और सामूहिक चेतना के भीतर ही से उस काव्यात्मक द्रव्य का सृजन करता है जो जीवन की

सामुदायिक अभिव्यक्तियों के भीतर से भावना का उदात्त साधारणीकरण कर देता है। रह गया व्यक्तिवाद या कवि की एकान्त निजी प्रतीति। उसके लिये कविता में एक जगह ज़रूर है मगर उन वैयक्तिक बोध-रेखाओं में सामाजिक शक्तियों के उतार चढ़ाव और सामूहिक मनोभावों के चटकीले रंगों की नियोजना होनी चाहिये। स्पष्ट और जन-जीवन के शब्दों में कविता सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा और प्रसार का अस्त्र है और मानवता के शोषणबन्धनों को तोड़ने और गुलामी की आर्थिक जन्जीरें काटने का पैना साधन है। सामाजिक और राजनैतिक स्वाधीनता और आर्थिक समानता के स्वप्न को लेकर मानव प्रकृति के आदिकाल से संघर्ष करता आया है और युगों के अनुसार इस महान युद्ध के स्वरूप भी परिवर्तित होते रहे हैं—नई नई अड़चनें और बाधायें—नई नई विरोधी और प्रतिक्रयात्मक शक्तियाँ इतिहास के भिन्न भिन्न कालों में उदित हुई हैं और मिटती रही हैं—निरंकुश राजन्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और आज का नग्नतम फासिस्टवाद और सैनिकवाद ये सब मानवता की महान स्वातंत्र्य प्रवृत्तियों और चेष्टाओं के सामने पराजित होते रहे हैं और इसी विश्वास पर आज प्रत्येक देश की जन शक्तियाँ महान रूस के नेतृत्व में संगठित हो रही हैं।

आज जब सामाजिक स्वतंत्रता की महान परम्परा खतरे में पड़ी है और फैशिज्म के दानव अपने खूनी जबड़ों को खोले हुए उसे चबाने के लिये चारों ओर से घेरते आ रहे हैं, सामाजिक आन्दोलनों और जनशक्तियों के उदय का प्रेरणाप्रद आह्वान करना प्रत्येक कवि का कर्तव्य है। कवि तो अवसर प्राप्त, जुझी हुई सामाजिक शक्तियों की आधारभूमि पर उगने वाली और विकास पाने वाली नई नई सामाजिक शक्तियों, क्रान्तिकारी मानवीय क्षमताओं

और आर्थिक और वर्ग-जन्य सांस्कृतिक विषमताओं को नष्ट कर एक वर्गहीन समाज की स्थापना की लड़ाई लड़ने वाली जन-जागृति की प्रबल प्रवृत्तियों का व्याख्याकार है जो समय के गर्भ में उठने वाले महान परिवर्तनों के प्रकाश में जीवन की टिप्पणियाँ लिखा करता है मानव को जो सांस्कृतिक विरासत अतीत की महान परम्पराओं में मिली है—जिन प्रजातंत्रात्मक मूल्यों के लिये मानव जाति ने अतीत में महान बलिदानों की माला पिरोयी है उनकी रक्षा करना इस संस्कृति के संक्रान्ति काल में कवि का पहला कर्तव्य है। इसी लिये आज हम देखते हैं कि हिन्दी कविता जो शताब्दियों तक राधिका कन्हाई सुमिरन का बहाना बनी रही या फिर विलास सुख भोग, मानसिक सौन्दर्य्य-पान और रस-सौख्य का साधन मानी जाती रही आज जनता के कवियों के हाथ में पड़ कर देश के सब से बड़े और संघर्षशील जन-वर्गों की आज़ादी की लड़ाई की और क्रान्ति की आकाँक्षाओं की तस्वीर बन गई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक जो हिन्दी कविता रूढ़ियों और निषेधात्मक विकृतियों के जाल में फँसी फड़फड़ा रही थी वही बाद में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की चेतना को शक्ति प्रदान करने वाली एक ऐतिहासिक परम्परा बन गई और मैथिलीशरण गुप्त, एक भारतीय आत्मा, रामनरेश त्रिपाठी, माधव शुक्ल, निराला, पन्त, नवीन और सुभद्रा जैसे प्रगतिशील कलाकारों और गायकों की उस युग की प्रबल स्वातंत्र्य-निष्ठा ने हिन्दी कविता के सदियों से रुके पड़े अनुभूति और चिन्तन के स्रोतों को मुक्त तथा प्रवाहित कर दिया। कवियों ने और जनता ने यह अनुभव करना आरम्भ कर दिया कि जो कविता जन-जीवन को अधिक संघर्ष-समर्थ और स्वतंत्रता का बलिदानी सैनिक नहीं बनाती वह कविता के सब से बड़े कर्तव्य "सांस्कृतिक मूल्यों और मानों की रक्षा" के पालन में असफल रहती है। आज जब

पूँजीवादी और विदेशी शासन के शोषण का शर्मनाक काला साया समस्त देश में फैला हुआ है, लोगों के अनुभव और अनुभव को सामाजिक रूप प्रदान करने वाली जीवन की आर्थिक और आचारिक स्थितियाँ बदल गई हैं, अपने बन्धनों की चेतना जब पग पग पर मनुष्य को समाज के सामूहिक अनुभूति-कोण की ओर द्रुतगति से बढ़ाये लिये जा रही है, जब सब के विचार, स्वप्न और जीवनाकाँक्षायें एक हैं और सब का लक्ष्य और साधन एक से हैं तब कवि व्यक्तिगत मान्यता को महत्व न देकर राष्ट्र की—समस्त देश और समाज की अनुभूतियों को वाणी देने लगे और देश में स्वातंत्र्य चेतना के उदय के साथ साथ हिन्दी कविता में भी सदियों के बाद उस व्यापक मुक्ति का उदय हुआ जो बीच में यदि पूँजीवाद के छायावादी रूप में न परिणत होगई होती तो अब तक कदाचित साम्यवादी क्रान्ति और जन-संस्कृति के निर्माण की सब से प्रमुख शक्ति होती। हर्ष की बात तो यह रही है कि हिन्दी कविता में इसी पूँजीवादी वर्ग संस्कार के चलते रहने पर भी उस में जन-संपर्क का रस अक्षुण्ण रखने वाले कवियों का एक दल बराबर सचेत और सक्रिय बना रहा और प्रजा के सामूहिक संघर्षों का महान क्रान्तिकारी अंतस्थ (content) जो सामाजिक चेतना से प्रोज्ज्वल था काव्य की रस भूमि में सुरक्षित रहा। राष्ट्रीय औद्योगीकरण उस समय एक प्रगतिशील कार्यक्रम था और वर्ग संघर्ष और शोषण के कटु अनुभवों से उत्पन्न नवीन यथार्थवाद बराबर हिन्दी कविता में उस समय भी दृष्टिगोचर होता था जिस समय व्यक्ति और समाज के भौतिक दर्शन, द्वन्द्वात्मक प्रगतिबोध और वैज्ञानिक—सामाजिक रस-योजना के विरुद्ध प्रसाद और महादेवी जी जैसे कवि अलौकिक आध्यात्मिक छायाओं से क्रीड़ा कर रहे थे। जिस समय महादेवी जी के काव्यदर्शन के नेतृत्व में हिन्दी कविता

मृत्यु-पूजा और जीवन से एक रुग्ण आध्यात्मिक भगाव की अभिव्यक्ति का मर्सिया बनती जा रही थी उस समय इस काल्पनिक और अनुभूतिशून्य रहस्यात्मकता के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ हो गया था और मानवता के हितों की रक्षा की आवाज़ हिन्दी कविता में उठ पड़ी थी। समाज परिवर्तन और समाज-विज्ञान की वर्ग-जन्य आर्थिक स्थितियों को उनके उचित दृष्टिकोण में देखा जाने लगा था। राष्ट्रीय भावनाओं के उत्तेजित स्वरों के उस युग में पूँजीवादी पलायन की कविता दूसरी ओर मुधरता के सोपान पर चढ़ती जा रही थी। जिस समय अधिकांश छायावादी कवि अपने उलझे सपनों से खेल रहे थे और एक सामान्य सामाजिक इकाई की जीवन-चेतना भी उनसे टूट टूट कर अलग होती जा रही थी उस समय 'नवीन' ने यह विद्रोही आतुरता प्रकट की थी—

एक हाथ में लिये निरी टूटी सी कलम - हृदय की भ्रान्ति
और दूसरा हाथ दिखाता वह पथ जहाँ आकुला क्रान्ति

यह सामाजिक सत्य—सामाजिक संगठन की टूटती हुई पुरानी रीढ़ का क्रान्ति की संभावनाओं के प्रकाश में यथार्थ प्रदर्शन ही वह रस है जो अपने साधारणीकरण में समर्थ और सामूहिक चेतना के उद्बोधन में सक्षम है। यही कारण है कि इस सत्य के अभाव में—काव्य में रस के इन सतत प्रवहवान स्रोतों के बन्द हो जाने से इस रस का—काव्य के इस प्राण पोषक तत्व का अभाव छायावादी कविता में बराबर बना रहा—यद्यपि काव्य की अन्य परिष्कृतियाँ और सुघरतायें, 'टेकनीक' की पूर्णता और कल्पना की रुचिरता और रंगीनियाँ उसमें ज़रूरत से ज्यादा आती रहीं। यह सामाजिक सत्य या रस 'कलेक्टिव इमोशन' समाज की बाह्य मूर्ति नहीं उसका मार्मिक स्वरूप है। यही

काव्य का लक्ष्य और उपलक्ष्य दोनों है। कवि के मन पर जब सामाजिक नवयुग की शक्तियों का प्रकाश पड़ता है तब वह चारों ओर की वायु से इस सामूहिक सत्य या जन-रस के तेज को अपने भीतर ग्रहण करता है। तभी उसकी वाणी का माधुर्य स्रोत नवीन बना रहता है।

सामाजिक दर्शन की आघातकारिणी अंतर्शक्ति तब तक कविता में आती रहती है। जब तक कवि के मस्तिष्क और हृदय के 'सेल्स' में समाज-स्रोतों के प्रवाह का आना कम नहीं होता। इन्हीं भयंकर सामाजिक परिवर्तनों और उथल पुथल का नैसर्गिक आभास पाकर ही 'दिनकर' ने लिखा है—

'तलातल से उभरती आ रही है आग कोई'

पूँजीवादी देशों में कवियों के लिये कला और कविता असीम-ससीम की साधना और व्यक्तिपूजा या स्वप्नोपासना की एक आभिजात्य-पूर्ण प्रक्रिया मात्र नहीं है वरन वह जन क्रान्ति का सबल हथियार है। वह स्वान्तः सुखाय नहीं वरन ढ़हती हुई समाज व्यवस्था और प्रणाली पर आक्रमण करने का मानवीय तरीका है। इस महान बोध को छायावाद की ह्रासोन्मुख परम्परा ने कवि के हृदय में स्थान करने ही नहीं दिया परन्तु मार्क्सवादी आलोचक और साहित्य समीक्षक कला की नैसर्गिक अनिवार्यता के नाम पर व्यक्ति स्वातंत्र्य, समाज की एकता और वर्गहीन आर्थिक आधार के मूल में विशृँखला पैदा करने वाली शक्तियों को सदैव चुनौती देगा और उन्हें सामाजिक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से लड़ा कर खत्म करेगा। यहीं समाजवाद और पूँजीवाद की व्यवस्थाओं में कविता के भिन्न भिन्न कार्यों का अन्तर स्पष्ट होगा। समाजवादी समाज में कविता उसी अर्थ में समाज की सेविका हो जायगी जिस अर्थ में प्रत्येक प्रकार का सामाजिक श्रम जनता

का सेवक है। हिन्दी कविता के भिन्न भिन्न कालों में यह देखा गया है कि कविता को जनता तक पहुँचने के लिये किसी न किसी माध्यम की आवश्यकता रही है। कभी उसे इस माध्यम के रूप में धार्मिक संस्थाओं और रूपकों या संगठित धार्मिक संप्रदायों और मठों की आवश्यकता पड़ी है—कभी उसे राजदरबारों के माध्यम से जनता का सामीप्य प्राप्त हुआ है। और इस पूँजीवादी युग में उसे जनता तक पहुँचने के लिये उन बड़े बड़े महाजनों का मुँह देखना पड़ता है जिनके लड़के से दोस्ती हो जाने में या जिनके यहाँ कविता सुनाने का निमंत्रण पाने पर और उनके मुँह से दो आदर के शब्द (आइस क्रीम की प्लेट के साथ साथ) पाकर बेचारा आज का हीनता की भावना से ग्रस्त मध्यवर्ग का कवि अपने को धन्य मानता है। आज कम से कम ब्रिटिश भारत में सामन्तवाद और राजन्यवाद बहुत कम रह गया है। इसलिये अब उसकी कला और काव्य-सुधा के प्रसार का माध्यम अधिक से अधिक संकुचित और साथ ही विश्रँखलित हो गया है। इसी पूँजीवादी व्यवस्था के कारण काव्य के बाह्य स्वरूप और छन्द, तन्त्र और संगीत में ऐसी विकृतियाँ आगई हैं जो उसे जनता की चीज़ ही नहीं बनने देतीं, वरन वे उसे एक सुविधा प्राप्त काम चोर और समाज के धन के शोषण पर नाजायज़ तौर से जीवित रहने वाले वर्ग के विलास और विद्रूप का साधन मात्र बना कर रह गई हैं। आज हिन्दी कविता में सामाजिक विषमता और एक वर्ग विशेष का सब से बड़े और श्रम-उत्पादक वर्ग पर आर्थिक शासन होने के कारण एक उत्कट सामाजिक अवज्ञा का घुन लग गया है और कविता के चेतनाधार इसी सामाजिक ऐक्य और परिपूर्णता का तार टूट गया है। परन्तु जहाँ हिन्दी कविता में सामाजिक परम्परा है, उसमें जहाँ समाज की तरुण और राजनैतिक चेतना से सम्पन्न यौवन शक्ति ब्रिटिश साम्राज्यवाद के

के साथ संघर्ष में जूझी है वहाँ देश भक्ति और स्वतंत्रता की उपलब्धि की प्रेरणा भी खूब मिलती है। यह शक्ति 'नवीन' और 'एक' 'भारतीय आत्मा' की कविता में अटूट रूप से उभरी है।

स्वाधीनता की इस नव संस्कृति और नव व्यवस्था में व्यक्ति की स्थिति समष्टि के साथ कैसी रहेगी इसका सबसे स्पष्ट और सुलझा हुआ विवेचन पन्त का है यद्यपि उनके ऐसे पद्यों में काव्य का मूल द्रव्य छू भी नहीं गया है—

'क्षुद्र व्यक्ति को विकसित हो अब बनना है जन मानव
सामूहिक मानव को निर्मित करती है संस्कृति नव
धर्मनीति औ' सदाचार का मूल्यांकन है जन हित
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण संबन्धित

क्योंकि आज तो 'नवीन' के शब्दों में—

जिनके हाथों में हल बक्खर जिनके हाथों में धन है
जिनके हाथों में हँसिया है वे भूखे हैं निर्धन हैं

कविता सामाजिक कर्तव्य की व्यापकता का सब से हार्दिक आग्रह है और साहित्य के हर युग के बदलते हुए आदर्शों और यथार्थों को संघर्ष की नई नई प्रेरणायें और श्रेणी संग्राम के नये नये अस्त्र वह देती रही है। युगों तक हिन्दी कविता में ईश प्रेम और ईश समर्पण के नाम पर गरीबी, सन्तोष आत्म विसर्जन और आत्म निपीड़न का जो प्रचार किया गया है उसके मूल में दूसरे वर्ग को दबाये रखने के लिये कविता बतौर हथियार इस्तेमाल हुई है। यह आध्यात्मिक पीनक अब कविता में नहीं चलेगा। जब वर्ग हीन समाज स्थापित हो जायगा उस समय कविता कलाकार की व्यक्तिगत या वर्गगत विशेषताओं और आवश्यकताओं की पूर्ति, अपने से नीचे वर्गों के

निरन्तर शोषण और ऊँचे वर्गों के प्रति दासता-निवेदन की ही अभि-व्यक्ति मात्र न बनी रहेगी जैसी कि वह आज तक बनी रही है। साथ ही यह बात हम नहीं भुला सकते कि कला के दृष्टिकोण से कविता का क्रान्तिकारी होना एक बात है परन्तु उसके साथ यह आवश्यक नहीं कि वह सामाजिक दृष्टिकोण से भी क्रान्तिकारी हो। प्रसाद, निराला और पन्त की अधिकाँश छायावादी रचनायें या आज के पद्य और गद्य में होने वाली अधिकाँश अचेतनवाद (सुररियलिज्म) की रचनायें कला की दृष्टि से क्रान्तिकारी हैं परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण अर्थात सर्वहारा वर्ग के साथ उनके सम्बन्ध को सोचते ही उनका यह क्रान्तिकारी स्वरूप न जाने कहाँ उड़ जाता है। छायावादी कविता के इतने लम्बे काल में समाज के अगोचर स्तर में बहने वाले रसस्रोत को तो इन मर्मी (?) कवियों ने खूब साधना और निष्ठा के साथ पकड़ा (और इसी लिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें और इनके से विचार रखने वाले आलोचकों और प्रशंसकों को शहद चाटने वाले और गुलाब की रूह सूँघने वाले कहा) हैं परन्तु समाज की गोचर शुष्कता और विभीषिका, वैषम्य और विकृतियों की ओर इन रहस्यवादी और साधक कवियों की दृष्टि नहीं गई। समाज जीवन की सतत घटनायें और संघर्ष करती हुई उसकी उच्च्यतम सामूहिक अभिलाषायें, मानव के पारस्परिक सम्बन्धों में नव नव आर्थिक और सामाजिक स्वातंत्र्य की योजनायें सभी तो उनसे दूर रहीं। मनुष्य के सामाजिक अन्तर्जगत में, उसके दैनिक जीवन के सम्पूर्ण सामाजिक क्रिया कलापों में, उसके सुख दुख और पाप पुन्य की वर्ग चेतनाओं में जितने भी संघर्ष चलते हैं वे प्रगतिशील कविता में ही वाणी पाते हैं। मानव संसार में अशान्ति उत्पन्न करने वाली सभी राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं की उसमें आलोचना होती है। सच तो यह है कि वह अपने काल के समाज के मानसिक विकास

का सवाक् चित्र है। जो कवि शून्यता से काव्य प्रेरणा और सामग्री प्राप्त करते हैं उनके निकट इन बाह्य स्थितियों का मूल्य कुछ नहीं होगा।

काडवेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Illusion & Realities में काव्य की मूल प्रेरणा की वैज्ञानिक खोज करते हुए उसका जन्म जीविका और निरापद रहने की आवश्यकता से माना है और इस प्रकार यथार्थ (realities) से अयथार्थ (Illusions) की सृष्टि सिद्ध की है। समाज विज्ञान के गहन प्रदेश में जाने पर यह स्पष्ट भी हो जाता है। आदिम मानवता के काल में जब मनुष्य को शिकार प्राप्त करने या फसल पैदा करने के लिये—इस नितान्त अर्थनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता था और जब उसे केवल जन्मजात प्रवृत्ति पर निर्भर रह कर सामाजिक उपायों के द्वारा अन्न की माँग की पूर्ति करनी पड़ती थी उस समय संघ-उत्सव (group festival) एक प्रमुख सामाजिक तरीका था। इन उत्सवों में समस्त समूह का पुञ्जीभूत हृदयावेग एक निश्चित और एकताबद्ध स्रोत से मुक्त होकर बहता था। इन संघ नृत्यों और गायनों में उत्सव-मग्न समाज की आँखों के सामने उसका काल्पनिक स्वर्ग अर्थात खाद्य सामग्री की बहुलता और लहलहाती फसलों के चित्र घूमा करते थे। परन्तु यह केवल wish fulfilment ही नहीं था। संगीत की उन्मादना में पैदा हुआ यह काल्पनिक जगत आज के पूँजीवादी समाज की विभीषिकाओं से ग्रसित युवक की स्वरति-सुषमावली से भिन्न होता था और उत्सव समाप्त होने पर यह सुनहला संसार मिट नहीं जाता था वरन आदिम जन समुदाय अपने काल्पनिक जगत को वास्तव का रूप देने के लिये इस जन संगीत से प्रभावित और अनुप्राणित होकर उसी प्रकार सामूहिक परिश्रम करता था जैसे रूस में आज सामूहिक खेती की व्यवस्था है। इस संघ भाव की जागृति में उसे

एक अपूर्व सुख मिलता था। परिश्रम का अवसाद कम करने के लिये और श्रम में आनन्द प्राप्त करने के लिये आज भी हम पत्थर तोड़ने वाली मज़दूरों की जमात को या भिन्न भिन्न क्षेत्रों में काम करती हुई श्रमिक पाँत को गाते और उल्लास मनाते देखते हैं। इस सम्मिलित श्रम की संचालिनी शक्ति के रूप में सब से पहले काव्य और संगति की मूल प्रेरणा इस संघ आवेग का जन्म हुआ था। इस लिये काव्य का ऐतिहासिक विकास देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मानव समाज की आर्थिक स्थितियों को उन्नततर यथार्थ में परिवर्तित करने के लिये प्रेरणा देने वाली मानवीय योजना और संगीत परिधि के रूप में उत्पन्न हुआ और समाज के क्रम विकास के साथ साथ परिस्थितियों के साथ युद्ध ने काव्य को समृद्ध किया। उत्पादन के अस्त्रों के धीरे धीरे उन्नत होने के बाद काव्य भी प्राथमिक प्रेरणा से आगे बढ़ कर उन्नततर अवस्था में रूपायित हुआ। इसी लिये पूँजीवादी समाज में जब मानव के उत्पादन-प्रयत्न अधिक से अधिक वैयक्तिक होते गये तब काव्य भी काल्पनिकता पर अधिकाधिक आश्रित होता गया और इस काल्पनिक सौख्य और बहुलता को एक जीवन्त यथार्थ का रूप देने की उसकी क्षमता ढ़हती चली गई। कारण था मनुष्य के उत्पादक श्रमों का सामाजीकरण न होना। काव्य की विभोरता से उसे यह प्रेरणा अब नहीं मिलती है कि जिस उत्तेजनात्मक श्रेष्ठतर अवस्था में वह इस संघ आवेग के क्षणों में पहुँच गया है उसे वह अपने श्रम से प्रत्यक्ष यथार्थ में परिणत करने की चेष्टा करे। जैसा काडवेल ने लिखा है अन्ध सहज प्रवृत्ति से यह रूपान्तर नहीं उपलब्ध होता वरन आर्थिक उद्देश्य साधन की सक्रिय चेष्टा से यह परिणति होती है। इसीलिये काडवेल ने एक वैज्ञानिक मार्क्सवादी साहित्य शास्त्री होने के नाते काव्य के उपादान के प्रत्यक्ष अस्तित्व को काव्य का सत्य न

मान कर उसकी गतिशीलता और संघ आवेग या सामूहिक रस को काव्य का सत्य माना है। जब समाज में श्रम विभाग के अनुसार वर्तमान अनय-मूलक वर्ग विभाजन हुआ और मेहनतकशों और मुफ़्तखोरों के दो बड़े वर्गों में समाज विभाजित हो गया तो उन्नततर समाज-व्यवस्था के फल स्वरूप कर्ममय जीवन में काव्य के स्वाद से वंचित होने पर मनुष्य ने अवसर मिलते ही उसे विनोद के साधन के रूप में ग्रहण किया। स्थिति तो यह है कि समाज के सब से बड़े वर्ग को आजीवन अटूट परिश्रम करते रहने पर भी मुश्किल से जीवित रहने योग्य अधिकार मिलता है और एक अत्यन्त छोटे वर्ग को जो शासक और पूँजी-संचालक वर्ग होता है आराम ही आराम रहता है। इस तरह काडवेल ने यह सिद्ध किया है कि वर्गहीन समाज की स्थापना के बिना काव्य में यह सामूहिक आवेग मूर्त होकर मनुष्य को कर्म-प्रेरित नहीं करेगा और वह अपने वर्तमान यथार्थ को भविष्य के सुन्दर-तर यथार्थ में परिणत करने की भौतिक स्फूर्ति नहीं पा सकेगा।

आज हम देख रहे हैं कि काव्य में गति, स्फूर्ति और जीवन की विजय का घोष करने वाली मंगलध्वनि नहीं है। यथार्थ के कठोर धरातल पर वह एक जीवित ज्वालामयी शक्ति के रूप में आज प्रतिष्ठित नहीं है। हिन्दी में इधर लोकयुद्ध काल में जो थोड़ी सी अच्छी कविता लिखी गई है उसे छोड़ कर काव्य जन संपर्क के रस का परिपाक कम ही कर पाया है। लगता है जैसे यंत्र के फन्दे में पड़ कर काव्य भी यंत्र वत हो गया है। समस्त रहस्यवादी, छायावादी और अवसादवादी काव्य में वही निशा या मृत्यु का निमंत्रण है, या फिर छायालोक और एक निस्सार रहस्यमयता के मकड़ी के जालों में घोंघे की सी अन्तर्विलीनता है। छायावाद की समस्त कविता उस विराट मानवीय शक्ति और रस से रहित है जो एक जीवित समाज का

समाजवादी भविष्य का कवि अपने 'रोमान्टिक' अहम् और अस्वाभाविक, अस्वस्थ्य जीवनाधारों की तुष्टि के लिये कविता नहीं लिखेगा। उसके सामने जन कल्याण और सर्वोदय का सामाजिक लक्ष्य होगा। आज पूँजीवादी बिलगाव के बन्धनों ने जन समुदाय को भयंकर साँस्कृतिक 'ब्लेक आउट' में बन्द कर दिया है। समाजवाद की अवतारणा होते ही ये बन्धन टूटेंगे और declassed अशिक्षित जनता उस समय कला की, काव्य और इतर ललित कलाओं की परिधि में खिंच आवेगी। तभी आज के असंख्य किन्तु भिक्त प्रतिभावान व्यक्तित्वों वाणी मिलेगी। जीवन के सामाजीकरण का यह अर्थ नहीं है कि कला और कविता में कवि के व्यक्तित्व के प्रसार की गुन्जायश नहीं रहेगी। कलाकार के व्यक्तित्व का प्रसार कुछ निश्चित सामाजिक लक्ष्यों के अन्योन्याश्रय में होगा और उसकी व्यक्तिगत विशेषतायें आज के छायावादी साहित्य की तरह समाज के प्रति एक स्थाई तनाव के माध्यम से नहीं प्रकट होंगी वरन दोनों का आत्मीकरण होगा और कलाकार समाज का एक अधिक सक्षम, क्रियाशील और सजग cell बन जायगा। आज तो कवि को यही रोना है कि पूँजीवादी निज़ाम में उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के पूर्ण साधन नहीं मिलते। समाजवादी समाज में ऐसा नहीं होगा।

इस लोक युद्ध काल में कवि का दायित्व और बड़ा है। आज तो समस्त संसार की साँस्कृतिक परम्परा खतरे में है और कवि को आज अपने गीतों के द्वारा जनता के हृदय में फैशिज्म और साम्राज्यवाद के प्रति अधिक से अधिक नफ़रत पैदा करनी है। फैशिज्म का नाश करने के लिये यह आवश्यक है कि जन जन के हृदय में उसके प्रति एक तीव्र, मारक और हिन्सात्मक घृणा उत्पन्न की जाय। साथ ही देश की जनता के टूटे हुए मनोबल को फिर से दृढ़ करना यह एक ऐतिहासिक

'रोल' है जो आज हिन्दी के प्रगतिशील कवि को पूरा करना है। वर्गों से ऊपर उठ कर साहित्य सृजन करने का दम्भ एक झूठी और निकम्मी स्वतंत्रता पर ग़लत अभिमान करना है और अपनी रचनाओं के द्वारा अनजाने ही शोषक और पूँजीपति वर्ग की सहायता करना है। समाज के बाहर ऐसी रचनाओं की कोई सत्ता नहीं है और समाज के विरोध में वैयक्तिक स्वतंत्रता की घोषणा करना अपने हितों की हत्या करना है। निरपेक्षता और इन क्षणिक सांसारिक भौतिक संघर्षों से ऊँचे उठ कर चिरन्तन कला की शाश्वत, अमर रचना करने का दम भरना प्रकारान्तर से प्रगति की शक्तियों का विरोध करके प्रतिक्रिया और सामाजिक आर्थिक दासता की बेड़ियों को सुदृढ़ करना है। यही माइकेल राबर्ट्स ने New Signatures की भूमिका में लिखा है—"There is only one thing to do: there is only one way of life for us: to renounce the capitalist system now and live by fighting against it... because there is no other decent way of life for us, no other way of living at our best."

आज कवि को जीवन के अनुभवों को अपनी उग्र मार्क्सवादी चेतना की ज्वाला में गला कर नये सिरे से ढालना है। इस महान जन-युद्ध में रूस और चीन की विजय का अर्थ देश देश के श्रमिकों और कृषकों के बन्धनों का टूटना है और परतंत्र देशों की सदियों की गुलामी का अन्त और मानव सम्बन्धों की एक नयी सामाजिक भित्ति पर स्थापना है। यहाँ हमें 'आडन' के निम्नलिखित शब्द कर मिट या मर मिट की बालशेविक स्फूर्ति और क्रान्तिकारी उत्साह देंगे :

If we really want to live, we'd better start at once to try.

If we don't, it doesn't matter, but we'd better start to die.

कवि के सामने स्थिति स्पष्ट है। यदि वह अपने सामाजिक अहं की तुष्टि में पड़ा रह कर श्रेणी विहीन समाज की स्थापना और वर्तमान पूँजीवाद के नाश के प्रयत्नों में योग नहीं देता तो वह अपना ही विनाश करता है। यह कहा भी नहीं जा सकता कि भविष्य की क्रान्तिकारी शक्तियाँ उसे सामाजिक परिवर्तनों की उथल पुथल भरी घड़ियों में किस अज्ञात अनिश्चित परिणाम की ओर ले जाँय। इतना तो ध्रुव सत्य है कि वह साहित्यिक 'फासिल' के रूप में एक ऐंड़ा बैंड़ा तनाव लिये झींखता रहेगा और व्यक्तिवादी साधना, व्यक्ति पूजा और व्यक्ति छलना के नाम पर वह कृत्रिम गुलकारियाँ सजाता रहेगा।

हिन्दी के सजग प्रगतिशील कवि का आज यह कर्तव्य है कि भारतीय जीवन में हो रहे परिवर्तनों को देखे, समझे, और काव्य में वैज्ञानिक हेतुवाद और सामाजिक बुद्धिवाद का प्रवेश कर के प्रगति की शक्तियों का साथ दे—प्रगति की आत्मा को जो एक कार्य और कारण के पारस्परिक सम्बन्ध से गुँथे हुए जीवनदर्शन में है, बल दे। एक ऐसी आलोचना की रेखा भी निर्मित होनी चाहिये जो प्रचलित प्रतिक्रियाशील प्रवृत्तियों को परिवार, धर्म, युद्ध, सेक्स और समाज के जटिल प्रश्नों पर घात प्रतिघात करने से रोके। पर उसका सब से बड़ा कर्त्तव्य है कविता को फिर से लोकप्रिय कला बना देना और इसके लिये उसे प्रचलित छन्दों का आश्रय लेना होगा। इस दिशा में तीन चार नये कवियों ने प्रयत्न किये हैं और वे सफल हुए हैं। खुशी की बात है जितने 'एन्टी फैसिस्ट' गीत हिन्दी में लिखे गये हैं वे सब प्रचलित छन्दों में हैं और छायावादी छन्दों की जटिलता का वहाँ

आभास भी नहीं है। अँगरेजी में 'आडन' ने यही किया है और इसके लिये उन्हें 'किपलिंग' जैसे प्रतिक्रियावादी, अँगरेजी साम्राज्यशाही के अन्ध समर्थक कवि का 'टेकनीक' अपनाने में हिचकिचाहट नहीं हुई। हिन्दी में भी ऐसे प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं और कविता एक बार फिर जनता की स्वातंत्र्य-ज्वाला और वर्ग चेतना के जागरण के अस्त्र के रूप में इस्तेमाल होगी ऐसी संभावना हो चली है। अँगरेजी कविता में 'इलियट' के 'हालो मैन' की निराशा और अवसादवाद 'voices quiet and meaningless, like rats' feet over broken glass' का जिस प्रकार आडन, स्पेन्डर और डे ल्यूइस ने खात्मा कर दिया वैसे ही छायावादी अतृप्ति, फ्रस्ट्रेशन, विकृति और अन्धकार को भेद कर प्रगति काव्य की शक्तियाँ दृढ़ता पूर्वक हिन्दी के संघर्ष क्षेत्र में आगे बढ़ रही हैं। पिछले स्पेन के गृहयुद्ध ने जिस प्रकार समस्त यूरोप की बुद्धिजीवी शक्तियों को झकझोर डाला था और उन्हें अपने अधिकारों की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में ले जाकर खड़ा कर दिया था वैसे ही वर्तमान विश्व युद्ध ने समस्त भारत की प्रान्तीय भाषाओं के सजग साहित्यकारों को फैशिज्म विरोधी लाल झंडे के नीचे खड़ा कर दिया है। और हिन्दी कविता में तो विशेष रूप से इसी लाल प्रगति के रक्त चिन्ह आप को पग पग पर दिखाई देंगे जो साहित्य के इतिहास में अमिट रहेंगे।

अध्ययन सामग्री

Christopher Caud well—Illusion and Reality.

Christopher Caudwell—Studies in a Dying Culture.

James T. Farrell—A Note on Literery Criticism.

Philip Henderson—Literature.

Romain Rolland—I will not rest.

Ralph Fox—The Novel and the People.

S. A. Dange—Literature and the People.

Ralph Fox—Communism.

George Allen and Unwin and Co.—I Believe.

David Guest—A Text Book of Dialectical Materialism.

Karl Marx—The Poverty of Philosophy.

Leon Trotsky—Literature and Revolution.

C. Day Lewis—Mind in Chains.

John Strachey—The Coming Struggle for Power.

Stephen Spender—The Destructive Element.

J. B. S. Haldane—The Marxist Philosophy and the Sciences.

John Strachey—The Nature of Capitalist Crisis.

C. Day Lewis—A Hope for Poetry.

Kitabistan—Ralph Fox—A Writer in Arms—Memorial Volume.

V. I. Lenin—Materialism and Empirio-Criticism.

Upton Sinclair—Mammon Art.

Louis Macneice—Modern Poetry.

Max Eastman—Artists in Uniform.

J. Stalin—Foundations of Leninism.

H. G. Wells—The New World Order.

A. C. Ward—The Nineteen Twentees.

विनय घोष—शिल्प, साहित्य और समाज (बँगला)
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास।
नन्ददुलारे वाजपेयी—हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी।
डा० राम विलास शर्मा—प्रेमचन्द।
शिवनाथ—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
सुमित्रा नन्दन पन्त—आधुनिक कवि।
प्रेमचन्द—कुछ विचार।
देवराज उपाध्याय—साहित्य की रेखा।
डा० केसरी नारायण शुक्ल—आधुनिक काव्य धारा।
यशपाल—मार्क्सवाद।
यशपाल—गाँधीवाद की शव परीक्षा।

अतिरिक्त राहुल सान्कृत्यायन, शिवदानसिंह चौहान, दिनकर, रमेश सिनहा, प्रभाकर माचवे, सत्येन्द्र, नेमिचन्द जैन, अख्तर हुसेन रायपुरी, कान्तिचन्द सौनरिकशा, प्रकाशचन्द गुप्त, नगेन्द्र, अमृत राय, आदि के स्फुट निबन्ध।